महाकविश्रीभारविविरचितम्

किरातार्जुनीयम्

(प्रथमसर्ग)

[आचार्य मल्लिनाथकृत घण्टापथ व्याख्या, श्लोकान्वय, हिन्दी-अनुवाद
संस्कृतभावार्थ व्याकरणात्मक टिप्पणी एवं छात्रोपयोगी
विस्तृत भूमिका सहित]

लेखक
डा० राजेन्द्र मिश्र एम० ए० (स्वर्णपदकाङ्क)
प्रवक्ता—संस्कृत विभाग
इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर
इलाहाबाद

प्रकाशक
व्यास नारायण भट्ट
सरस्वती प्रकाशन मन्दिर
६९ नया बैरहना, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९७६
प्रतियाँ : ११००
मूल्य : रू० ५.०० मात्र

मुद्रक
शेष कुमार श्रीवास्तव
आनन्द प्रिंटिङ्ग प्रेस
७२ बाई का बाग इलाहाबाद-३

प्रस्तुत संस्करण

महाकवि भारवि-प्रणीत किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रथम-सर्ग की यह व्याख्या मैने स्वर्गीय श्री जमुना प्रसाद भट्ट के अनवरत निवेदन तथा पूज्यपाद पितृव्य डॉ० आद्याप्रसादमिश्र जी के आदेश से सन् १९७० ई० मे लिखी थी।

इसके पूर्व भी, कई एक लब्धप्रतिष्ठ व्याख्याकारो की पुस्तके इस एक सर्ग पर प्रकाशित हो चुकी है। अतएव यह कहने का मिथ्या-साहस न करूँगा कि 'इस नवीन व्याख्या के बिना छात्रो का काम नही चल सकता था'। फिरभी, यह कहने मे मुझे सकोच नही है कि किरातार्जुनीयम् की नारिकेलफलसम्मित पदावली के रसगर्भनिर्भर-सार का जैसा आनन्द मुझे विद्यार्थी-जीवन मे, रमणीय पाठन-शैली के कारण, अपने श्रद्धेय गुरुजनो से मिला था अथवा प्रवक्ता बन जाने के बाद, उन्ही की नकल पर छात्रो को जैसा आनन्द देने का प्रयत्न मै स्वय करता रहा हूँ, विगत सस्करणो मे उन सबका अभाव था। प्रस्तुत प्रकाशन के सन्दर्भ मे उसी 'अभाव' को मेरी 'छात्र-हित भावना' भी मान लीजिये।

स्वर्गीय भट्ट जी द्वारा प्रकाशित प्रथम सस्करण सन् ७४ ई० के पूर्व ही समाप्त हो गया था। तब से निरन्तर छात्र-समुदाय में इस व्याख्या की माँग होती रही। अनेक छात्र समय-समय पर मुझसे इस विषय मे पूछताँछ करते रहे। बाहर से भी अनेक प्रवक्ता मित्रो तथा शिष्यो के पत्र इस सन्दर्भ मे प्राप्त होते रहे। वस्तुतः उन्ही आग्रहो से प्रभावित होकर, ग्रन्थ का यह सस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

पिपीलिका-वृत्ति से इस व्याख्या को उपादेय बनाने का प्रयत्न मैंने किया है। कागज के बढे हुए मूल्य को ध्यान मे रखकर इस सस्करण मे 'शब्दान्तर' तथा 'प्रश्नपत्र' नही दिया गया है। इससे पुस्तक का कलेवर अपेक्षाकृत कम होगा साथ ही साथ मूल्य भी! मूलश्लोको को मोटे टाइप मे कर दिया गया है।

मेरे परमप्रिय, मेधासम्पन्न, विनीत शिष्य चि० आनन्द कुमार श्रीवास्तव्य (सस्कृत प्रवक्ता, चौ० म० प्र० महाविद्यालय, इलाहाबाद) ने ग्रन्थ की साजसज्जा एव प्रतिपाद्य-परिष्कार का दायित्व अकेले निबाहा है, एतदर्थ हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ। ग्रन्थ के नये प्रकाशक श्री व्यास नारायण भट्ट के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होने इस सस्करण का प्रकाशन भार सहर्ष स्वीकार किया।

२५ अगस्त
सन् १९७६ ई०

विनीत
राजेन्द्र मिश्र

पाठकों के लिये

सस्कृत काव्यवाङ् मय अपने वैविध्य के लिये प्रख्यात है । यह वैविध्य मुख्यतः प्रतिपाद्य का, प्रतिपादन-शैली का, रस एव छन्द का है । एक ओर तो हम जीवन के सुभग आदर्शो की व्याख्या करने वाले कविकुलगुरु कालिदास के काव्य पाते है और दूसरी ओर केवल नायक-नायिका के उद्दाम प्रणयचित्रण के दर्पणभूत अमरुशतक प्रभृति आञ्चलिक काव्य । एक ओर व्याकरण के कठोर, शुष्क सिद्धान्तो की रसपेशल व्याख्या से सवलित भट्टिकाव्य तो दूसरी ओर भूपति-विशेष का प्रशस्ति-विलास—नवसाहसाङ्कचरितम् । माँ भारती का आँगन इतना विशाल है और उसकी यशोगाथा इतनी सायाम है कि उसे सक्षिप्त करना असम्भव ही है । फिर भी भौतिक दृष्टि से हम यह कह सकते है कि सस्कृत काव्यवाङ्मय रामायण से आज तक कई सहस्राब्दियो के युगक्षय का प्रतिफलन है । इसी विशाल काव्याकाश का एक लघु किन्तु ज्योतिष्मान् नक्षत्र है–भारवि । यह भूमिका छात्रो के लिये लिखी जा रही है अतः समस्या-समाधान शैली मे इसी सुकवि से सम्बद्ध कुछ तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं ।

पहली समस्या—यह है कि सस्कृत काव्य का सामान्य स्वरूप क्या है और महाकवि भारवि का उसमे क्या स्थान है ? दशम शताब्दी ई० मे विद्यमान आचार्य अभिनवगुप्तपाद के काव्यगुरु आचार्य भट्टतौत ने अपने लक्षणग्रन्थ 'काव्यकौतुक' में लिखा था—'तस्य कर्म स्मृत काव्यम्' । अर्थात् उस (कवि) के कर्म को ही काव्य कहते है । कवि उसे कहते है जो कवन (वर्णन) क्रिया करे–कवयति इति कविः । 'कवृ' धातु का प्रयोग वर्णन करने के अर्थ मे होता है । इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से कवृ धातु मे एक विशेष प्रत्यय जोड कर कवि शब्द बनता है जिसका सुस्पष्ट अर्थ यह है कि जो (निर्दोष रीति से गुणो, रसो तथा यथोचित अलङ्कारों से भी सवलित शब्दार्थसमष्टिमय) वर्णन करे । और काव्य क्या है ? वही कविकर्म अर्थात् ऐसा शब्दार्थसाहचर्य जो कि निर्दोष हो, गुणो से युक्त हो साथ ही साथ सालङ्कार भी हो । आचार्य मम्मट कहते है—तत् (काव्यम्) अदोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृती पुनः क्वापि ।

सस्कृत काव्यवाङ्मय के मेरुदण्ड है कविकुलगुरु कालिदास । अतएव सौकर्य के लिए उन्हे ही केन्द्रबिन्दु मान कर प्राय. आलोचक-गण संस्कृत-काव्य के तीन युगों

की कल्पना करते है–पूर्व कालिदासयुग, कालिदासयुग और कालिदासोत्तर युग। कालिदास का समय ई० पू० प्रथमशती है अतएव उनका पूर्ववर्ती युग स्थूलरूप से वाल्मीकीय रामायण से लेकर उनसे उदयकाल तक है। यह युग कितने वर्षों का था, कुछ कहना सभव नही क्योकि रामायण का रचनाकाल आज भी एक अनबूझ पहेली ही बना हुआ है। फिर भी यदि भारतीय परम्परा का आश्रय ले तो महाभारत से भी पूर्व प्रणीत लौकिक सस्कृत का यह प्रथम महाकाव्य ई० पू० लगभग पाँच हजार वर्षों से पहले का ही होना चाहिए।

इस युग की प्रमुख काव्यकृति रामायण है। यदि आज उपलब्ध होने वाले ग्रथो एव ग्रन्थकारो के उल्लेखो पर विश्वास करे तो हम महर्षि पाणिनि प्रणीत जाम्बवतीविजय एव व्याडिकृत सग्रह ग्रन्थ (?) आदि को भी इसी युग की रचना स्वीकार कर सकते है। यह वह युग था जब कि हजारो वर्षों से अभिव्यक्ति का साधन बनी रहने वाली वेदभाषा अपनी जटिलताओ के कारण प्रयोग से बहिष्कृत हो रही थी। आपिशलि, काशकृत्स्न, स्फोटायन, शाकल्य, सेनक, शौनक, यास्क एवं अन्यान्य प्राचीन आचार्य भाषा को एक सुस्थिर रूप देने के प्रयत्न मे जी जान से लगे थे। उनका यह प्रयत्न फलीभूत हुआ ई० पू० सातवी शती मे, जब कि महर्षि पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' का प्रणयन करके युगयुगान्तर के लिये भाषा का रूप निश्चित कर दिया। महर्षि पाणिनि ने प्रकृति-प्रत्यय सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म असगतियो को भी एक सुस्थिर रूप प्रदान किया। तुमुन् प्रत्यय के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाले लगभग चौदह प्रत्ययो को उन्होने अमान्य घोषित किया, षष्ठी एव चतुर्थी विभक्तियो के वैकल्पिक प्रयोग पर उन्होने रोक लगाई। एक ही अर्थ मे प्रयुक्त क्त्वा तथा यक् (जैसे गत्वा-गत्वाय) प्रत्ययो मे से केवल एक 'त्वा' को उन्होने शुद्ध घोषित किया आदि आदि।

महर्षि पाणिनि के इन्ही कठोर व्याकरण-नियमो मे मँज कर अब भाषा निखर आई। उन्होने इसकी विसगतियो, विकल्पो एव दुरूहताओ का परिशोधन करके आमूलचूड संस्कार किया। फलत· युग-युग से देववाणी, सुरभारती या वेदभाषा प्रभृति सज्ञाओ से मण्डित रहने वाली यह भाषा कालान्तर मे सस्कृत' कही गई। आचार्य दण्डी (सातवी शती) लिखते है–'सस्कृत नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभि·।' यद्यपि रामायण पाणिनि से पहले की काव्यकृति है परन्तु भाषा की दृष्टि से हम उसे पाणिनियुगीन ही मान सकते हैं। इसमे एक ओर तो हम वेदभाषा से पृथक् लौकिकसस्कृत का वर्धमान प्राञ्जल रूप पाते है तो दूसरी ओर 'प्रबोधयित्वा' जैसे अपाणिनीय प्रयोग भी पा जाते है जिनसे स्पष्ट ध्वनित होता है कि

रामायण के रचना-काल तक भाषा का रूप स्थिर नही हो सका था । वस्तुतः वह दो भाषाओ के पतनोत्थान की सान्ध्यवेला में प्रणीत काव्य-कृति है ।

पूर्वकालिदासयुगीन काव्यकृतियो का सर्वश्रेष्ठ वैशिष्ट्य यह है कि उनमें भावपक्ष का प्राधान्य है और भाषापक्ष या कलापक्ष की गौणता । कवि ने मानवीय-भावो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण मे अपनी सारी रचनाचातुरी लगा दी है । इसका यह अर्थ नही कि इस युग के काव्यो की भाषा मे कोई कौशल नही । वस्तुतः भाषा अत्यन्त सरल है, उसमे कोई जटिलता नही, चित्रात्मकता का नाम नही, वह अलङ्कार-भार से बोझिल नही । परन्तु भावो की तूलिका मे आबद्ध कल्पना के एक से एक रमणीय चित्र साकार हो उठे है । वर्षाकाल मे पर्तदार कृष्णमेघो की घटा वृक्षो के ऊपर इस प्रकार घिर आई है कि यदि कोई चाहे तो इन मेघसोपानो से चढता हुआ सूर्य को भी कुटज एव अर्जुन की मालाओ से अलकृत कर दे—शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपङ्क्तिभि· ।

कुटजार्जुनमालाभिरलङ्कर्तुं दिवाकर. ।।—किष्किन्धाकाण्ड ।

पूर्वकालिदास युग की काव्यकृतियाँ प्राय मिलती नही हैं । परन्तु प्रामाणिक साक्ष्यो से सिद्ध हो जाता है कि इस युग मे काव्यवाङ्मय अत्यन्त समृद्ध था । रामायण के अतिरिक्त महाभारत एव अनेक पुराण इसी युग की कृति है । भले ही हम उन्हे काव्य के स्थान पर 'इतिहास या पुराण' की सज्ञा दे परन्तु उनके पृथुलक-लेवर मे इतस्तत बिखरे मनोहर काव्यरत्नो को नकारा नही जा सकता । पाणिनि-प्रणीत जाम्बवतीविजय एव व्याडिप्रणीत सग्रह-ग्रन्थ की चर्चा ऊपर की जा चुकी है । मौर्ययुगीन कवि एव वार्तिककार, वररुचि कात्यायन की रचनाओ का भी परिचय हम आचार्य पतञ्जलि एव राजेशखर से पाते है । पतञ्जलि 'वाररुचं काव्यम्' का उल्लेख करते हैं जिसे कि राजशेखर ने 'कण्ठाभरण' नाम दिया है—'व्यधत्त कण्ठाभरण य सदारोहणप्रिय: ।' वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी नामक आख्यायिकाएँ, कसवध तथा बलिबन्धन नामक नाटक साथ ही दृष्टान्त रूप मे समुद्धृत सैकडो पद्याश—महाभाष्यकार पतञ्जलि द्वारा उद्धृत ये सब के सब काव्य यह बताते है कि पूर्वकालिदासयुग कितना समृद्ध और सशक्त था ।

कालिदास के अभ्युदयकाल से लेकर भारवि के पूर्व तक का समय सस्कृत-काव्य वाङ्मय का 'कालिदास-युग' है । यह युग भाव एव भाषा के समन्वय का है । व्यञ्जना शक्ति का अमोघ-आयुध लेकर 'कविकुलगुरु' कालिदास ने इस युग का नेतृत्व किया । भावपक्ष रामायण की ही भाँति समृद्ध रहा इस युग मे किन्तु भाषा मे अनेक चामत्कारिक परिवर्तन हो गए । वह एक अल्हड ग्राम्या किशोरी की भाँति

नही रह गई बल्कि कालिदास ने रसपेशल पदावली से, मञ्जुल पदशय्या से तथा रमणीय अर्थालङ्कारो से अलङ्कृत करके उसे एक नववधू का रूप दे दिया। कालिदास की अभिव्यक्ति-कला, उनकी उपमाएँ, उनकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कल्पनाएँ, चराचरैक्यभावनाएँ—सब ने एकबारगी उन्हे उस युग का पुरोधा कवि बना दिया। उनका अनुसरण किया अश्वघोष, मातृचेट, कुमारदास एव अनेक बौद्ध कवियो ने।

परन्तु ईसा की छठी शताब्दी मे सस्कृत-काव्य मे एक उल्लेखनीय मोड आया जिसने इस समूची काव्यधारा को एक विपरीतदिशामे मोड दिया। इस क्रान्ति का सूत्रपात किया महाकवि भारवि ने जिनका उदयकाल ५५० ई० के आसपास माना जाता है। भारवि ने भावपक्ष की अपेक्षा कला या भाषापक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया। फलत. सस्कृत कविता मे चित्रकाव्य का अवतार हुआ। कविता को अब रसानुभूति के लिए नही, चमत्कार मात्र पैदा कर देने के लिए लिखा जाने लगा। कवियो मे एक होड सी मच गई अपना बुद्धिवैभव तथा प्रतिभाप्रकर्ष प्रदर्शित करने के लिए। मुरज, पणव, कमल, नाग, डमरुक, खड्ग एव गोमूत्रिका जैसे बन्धो का तथा अनुलोम, प्रतिलोम, एकाक्षर, एकस्वर, भाषासम एव अन्यान्य काव्यप्रणयन शैलियो का विकास हुआ।

आलोचको ने पूर्वकालिदास एव कालिदास युग की कविता को 'सुकुमारशैली' की सज्ञा दी थी और अब इस कविता को 'अलङ्कारशैली' कहा गया। महाकवि भारवि, माघ, भट्टि तथा आनन्दवर्धन आदि इसी शैली के कवि है। यह काव्यधारा सस्कृत काव्यवाङ्मय मे कई शतको तक रही। अनेक विस्मयोपपादक, गणित के समान नीरस किन्तु आश्चर्यचकित कर देने वाली काव्यकृतियाँ इस युग मे प्रणीत हुई। परन्तु १२वी शती ई० के आसपास जनता पुन: कालिदास के लिए लालायित हो उठी और एक बार फिर रसगर्भनिर्भर, सरल-सुमधुर काव्यसृष्टि होने लगी। मखक, बिल्हण, श्रीहर्ष एव पण्डितराज जगन्नाथ आदि इसी युग का प्रतिनिधित्व करते हैं। आचार्य मखक का व्यक्तित्व दुहरा था—आचार्य भी थे, कवि भी थे। उन्हे कालिदास के प्रति बडी आस्था थी, बडा ममत्व था। फलत. उन्होने काव्यरसिको को खुलेआम प्रेरणा दी कि वे अलङ्कारशैली का बहिष्कार करे क्योकि यह कविता लोकानुरञ्जन के लिए नही, केवल आत्मप्रकर्ष-प्रख्यापन के लिए थी। उन्ही के एक सन्देश मे इस समस्या की समाप्ति की जा रही है—

यातास्ते रससारसग्रहविधिं निष्पीड्य निष्पीड्य ये
वाक्तत्त्वेक्षुलता पुरा कतिपये तत्त्वस्पृशश्चक्रिरे।

जायन्तेऽद्य यथायथ तु कवयः ये ह्यत्र सन्तन्वते
येऽनुप्रासकठोरचित्रयमकश्लेषादिशल्कोच्चयम् ॥

दूसरी समस्या—यह है कि महाकवि भारवि कौन थे, कहाँ थे, कब थे ? उनकी उपलब्धियाँ क्या है ? भारवि की अमरकीर्ति का साक्षी उनका एकमात्र महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' है जिसमे कि उन्होने अपने विषय मे एक शब्द भी नही लिखा है । फिर भी कुछ बहिरग साक्ष्यो के आधार पर हम उनके जीवनकाल, जन्मस्थान, जाति, धर्म एव अन्यान्य वैशिष्ट्यो के विषय मे कुछ जानकारी प्राप्त कर सक । है । वे प्रमाण इस प्रकार है—

१. अष्टाध्यायी के एक सूत्र 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (१।३।२३) की व्याख्या करते हुए 'काशिका' नामक वृत्ति के लेखक आचार्य जयादित्य ने उदाहरण के रूप मे किरातार्जुनीय के एक पद्यांश को उद्धृत किया है—सशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः (किरात ३।१४) काशिकावृत्ति का रचनाकाल, चीनी यात्री इत्सिग के (जो सन् ६७३ ई० मे भारत–यात्रा पर आया था) विवरण के आधार पर ६६० ई० के आसपास स्वीकार किया जाता है । जयादित्य जैसे महान् वैयाकरण द्वारा किरात के पद्य का उदाहृत किया जाना यह सिद्ध कर देता है कि निश्चय ही तब तक भारवि एक सम्मान्यमहाकवि का यश प्राप्त कर चुके रहे होगे । यदि इस प्रसिद्धि-अवधि को सौ वर्ष का समय दे दिया जाय तो भारवि का अभ्युदयकाल ५६० ई० के आसपास सिद्ध होता है ।

२. दक्षिणापथ-नरेश पुलकेशिन् द्वितीय के प्रशस्तिलेख मे भारवि का सुस्पष्ट नामोल्लेख है । यह शिलालेख बीजापुर जिले के ऐह्रोल (ऐहोड या आयहोल) ग्राम के एक जैनमन्दिर मे प्राप्त हुआ है । इस लेख का समय ५५६ शकाब्द (अर्थात् ६३४ ई०) है ।[1] प्रशस्तिलेखक रविकीर्ति नामक किसी कवि ने काव्यप्रणयन मे अपने को कालिदास तथा भारवि की ही भाँति यशस्वी बताया है—

येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
स विजयता रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ॥

इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारवि के जीवनकाल की निम्नतम सीमा सन् ६३४ ई० है । यदि भारवि का उदयकाल इस प्रशस्तिलेख से सौ

---

१. पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च ।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥

पूर्व मान लिया जाय, जो कि अनुचित नही, तो उनका समय सन् ५३४ ई० के समीप सिद्ध होता है ।

३ दक्षिणभारत मे विद्यमान गुम्मरेड्डीपुर नामक स्थान से प्राप्त एक पत्रलेख के प्रामाण्यानुसार महाराज दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय के पन्द्रहवे सर्ग की टीका लिखी थी ।[1] दुर्विनीत कोङ्कणनरेश अविनीत का पुत्र, काञ्ची के पल्लववशी नरेश सिंहविष्णु का समकालीन था । त्रिचनापल्ली से कुछ दूर 'उदयाङ्कोण्डनतिरु-मलाइ' नामक स्थान पर चोलनरेश परान्तक प्रथम का एक स्तम्भलेख भी मिला है जिसमे कि अनेक गगवशी भूपतियो के साथ दुर्विनीत का नामोल्लेख किया गया है ।[2] गगवशी दुर्विनीत अपने नामार्थ से सर्वथा भिन्न अत्यन्त विनयी एव विद्वान् नरेश था । उसने बृहत्कथा का सस्कृत रूपान्तर 'शब्दावतार'नाम से किया था और किरात के उस सर्ग (१५ वाँ) पर सस्कृतटीका प्रणीत की जो कि पूरे महाकाव्य मे सर्वाधिक क्लिष्ट, चित्रकाव्यो का अश है । दुर्विनीत का समय आधुनिक इतिहासकार ५८० ई० के आस-पास स्वीकार करते हैं अतएव भारवि का उदयकाल इससे पूर्व ही होना चाहिए ।

४ महाकवि दण्डी विरचित 'अवन्तिसुन्दरीकथा' और उसी के आधार पर प्रणीत श्लोकमय 'अवन्तिसुन्दरीकथासार' से भी भारवि के जीवनकाल पर प्रभूत प्रकाश पडता है । इस कथा मे भारविविषयक जो सूचनाएँ प्राप्त होती है उनसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि भारवि चालुक्यवशीय सम्राट् विष्णुवर्धन के राजकवि थे । विष्णुवर्धन ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर पुलकेशिन् द्वितीय का अनुज और उसी के द्वारा नियुक्त 'युवराज' भी था । सैन्यसञ्चालक के रूप मे इसी विष्णुवर्धन ने पल्लवो को तथा कान्यकुब्जनरेश हर्षवर्धन को पराजित किया । गोदावरी नदी के किनारे 'पिष्टपुरम्' नगरी को राजधानी बनाकर वह अपने भाई के सरक्षण मे एक प्रदेश का शासन भी करता था । कालान्तर मे उसने अपने को स्वतन्त्र घोषित करके सन् ६१५ ई० मे पूर्व चालुक्यवश की सस्थापना की ।[3] इस प्रकार भारवि विष्णुवर्धन के समकालिक सिद्ध होते है ।

१. श्रीमत्काङ्कणमहाराजाधिराजस्य अविनीतनाम्नः पुत्रेण शब्दावतार-कारेण देवभारतीनिबद्ध-बृहत्कथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीत-नामधेयेन·· ·········।(आर्कियोलाजिकल रिपोर्ट, कृष्णमाचारियर सन् १९१६ ई०)

२. 'आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया'—'साउथ इण्डियन इन्स्क्रप्शन्स' ग्रंथ दो, भाग तीन। पृ० ३८७ ।

३ 'हिस्ट्री आफ क्लैसिकल सस्कृत लिटरेचर'—एम्० कृष्णमाचारियर पृ०१४७ ।

इसी 'अवन्तिसुन्दरीकथा' से भारवि के विषय मे कुछ और प्रामाणिक सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं। कथा मे उल्लिखित प्रामाण्यानुसार काञ्ची का पल्लवनरेश सिंहविष्णु अत्यन्त प्रतापशाली था। किसी दिन अपनी प्रशस्ति मे पढी गयी एक आर्या को सुन कर जब उसने गायक गधर्व से उसके रचयिता का परिचय पूछा तब गन्धर्व ने सविस्तर वर्णन किया—"देव परमनुगृहीतोऽस्मि क्षणमवधानादनुगृहीततम........ णावास: ततो हि निस्सृता सरस्वतीव ब्रह्मलोकादगस्त्यमूर्तिरिव गीतोद्गीर्णम ..... रचलस्य कृतनिवेशितमचलपुर नाम गवप्रोदकपुष्पवासितकलकाननायासि ...सम्भृतधृतिरधिवसति कुशिकवशवर्धिनी सर्वातिथिरप्रतिगृहीत्री महत्यु .. (ना) रायणस्वामिनो नाभीपद्म इव ब्रह्मैकधाम दामोदरस्वामिनामात्तमेत (?) ... . सर्वाङ्गमनोहरया सर्वज्ञया विदग्धया सर्वभाषाप्रवीणया प्रमाणयुक्तया ललितपदविन्यास . स्नेहमस्वज्यत। को हि नाम भगवतीभवितव्यतामतिक्रम्य यथासमीहितेन साधयति पथा (?)। यत कौशि......(४बी) व पुण्यकर्मणि विष्णुवर्द्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात्। एकदा च मृगया गच्छतामुना नीत......यात्राप्रसङ्गेण दिनान्तराणि भ्रमणशीलकीर्तेर्गाङ्गेयकुलध्वजस्य दुर्विनीत इति विपरीतनाम्न: .....वदनादिसौजन्य दर्शयता वशीकृततदभ्यासे वसत्यार्येयमिय च व ......सौ विंशतिवर्षदेशीय:।"

इस वर्णन का सक्षिप्त आशय यह है कि—'पश्चिमोत्तर प्रदेश मे आनन्दपुर नामक स्थान मे कौशिक गोत्रोत्पन्न एक शिखारत्न ब्राह्मण परिवार रहता था जो कि कालान्तर मे नासिक्यप्रदेश स्थित अचलपुर मे आकर रहने लगा। इसी परिवार मे नारायण नामक एक महापुरुष से दामोदर उत्पन्न हुए। अत्यन्त मेधावी, विद्वान्, वाणीनिपुण इन्ही कवि भारवि (दामोदर) ने अनुरोध सहित चालुक्यनरेश विष्णुवर्धन से मित्रता की[1]। एक दिन मृगयाप्रसग मे राजा के साथ वनप्रान्त मे जाकर क्षुधाविष्ट हो कर भारवि-दामोदर ने अभोज्य मासभक्षण कर लिया और बाद मे इस पाप से त्राण पाने के लिये तीर्थयात्रा पर निकल पडे। मार्ग मे उनकी भेट असार्थक नाम वाले (गगवशी राजपुत्र) दुर्विनीत से हुई। उसी दुर्विनीत से भारवि ने यह आर्या कही।'

पल्लवनरेश सिंहविष्णु ने यह परिचय पाकर महाकवि भारवि को अपने दरबार मे बुलवाया और कवि का भरपूर सम्मान किया। इस प्रकार भारवि काञ्ची

---

१. दामोदर इति श्रीमानादि......वाभवत् ॥

स मेधावी कविर्विद्वान् भारवि. प्रभवो गिराम्।

अनुरुध्याकरोन्मैत्री नरेन्द्रे विष्णुवर्धने ॥—अवन्तिसुन्दरीकथासार

नगरी मे पल्लवनरेश सिंहविष्णु (५७५-६०० ई०) तथा बाद मे उसके महेन्द्रविक्रम के साथ सुखपूर्वक रहने यगे । 'सिंहविष्णु से मिलते समय कवि अवस्था केवल बीस वर्ष की थी' ऐसा कथा का प्रामाण्य है । ऐतिहासिक के आधार पर सिंहविष्णु का शासनकाल ५७५ से ६०० ई० तक माना जाता उसने मलय, पाण्ड्य तथा चोलनरेशो को पराजित करके कावेरी नदी के प्रदेशो पर अधिकार कर लिया था । सिंहविष्णु के पुत्र महेन्द्रवर्मन् या महेन्द्रविक्रम (६००-६२५ ई०) 'शत्रुमल्ल' तथा 'अवनीभाजन' उपाधियाँ धारण की । की ही भाँति महेन्द्र भी संस्कृत-भाषा का परमोपासक था । उसमे काव्यप्रतिभा भा जिसका कि प्रमाण हमे उसकी कृति 'मत्तविलासप्रहसन' से प्राप्त हो जाता है । प्रकार सिंहविष्णु तथा महेन्द्रविक्रम के प्रीतिभाजन भारवि का समय छठी शती उत्तरार्ध एव सातवी के पूर्वार्ध मे सिद्ध होता है ।

इस सन्दर्भ मे एक तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक है । वह यह 'अवन्तिसुन्दरीकथा' के जिस अश मे भारवि-दामोदर एव चालुक्यनरेश की मैत्री का साक्ष्य मिलता है, वह अश विवादास्पद है । ग्रन्थ के सम्पादक रामकृष्ण कवि 'यत. कौशिक... व पुण्यकर्मणि . ..विष्णुवर्धनाख्ये..... सूनौ प्रणयमन्वबध्नात्' इस अश को उद्धृत करके 'भारवि' को दामोदर का मानते है फलत उनके मन्तव्यानुसार 'भारवि' दामोदरकवि की पदवी थी भारवि के पुत्र थे मनारथ । मनोरथ के चतुर्थपुत्र वीरदत्त तथा उनकी पत्नी गौर से ही दण्डी पैदा हुए । यही दण्डी अवन्तिसुन्दरीकथा, काव्यादर्श एव दशकुमारचरितम् के प्रणेता है ।

परन्तु जी० हरिहर शास्त्री ने, सस्कृत-पाण्डुलिपिप्रकाशन विभाग त्रिवेन्द्रम् से प्राप्त उक्त ग्रन्थ की एक अन्य पाण्डुलिपि के आधार पर उपर्युक्त वाक्य को इस प्रकार पढा है—'यत कौशिककुमारो (दामोदरो) महाशैव महाप्रभाव प्रदीप्तभास भारवि रविमिवेन्दुः अनुरुध्य दर्श इव पुण्यकर्मणि विष्णुवर्धनाख्ये राजसूनौ प्रणयमन्वबध्नात् ।'

वस्तुतः इस पाठ से श्री रामकृष्णकवि की मान्यता पूर्णत. विनष्ट हो जाती है क्यो कि शास्त्री जी ने जो पाठ निश्चित किया है उससे यह सिद्ध होता है कि भारवि एव दामादर दो पृथक् व्यक्ति थे । भारवि का सम्बन्ध राजा विष्णुवर्धन से पहले भी था । हाँ, दामोदर ने अवश्य ही भारवि की कृपा से महाराज विष्णु-वर्धन के दरबार मे प्रवेश प्राप्त किया । जो भी हो, चाहे भारवि तथा दामोदर एक हो

(जैसा कि अवन्तिसुन्दरीकथा एव कथासार-गत श्लोक से सिद्ध होता है)[१] चाहे दोनो परस्पर मित्र रहे हो-इतना तो निश्चित ही है कि भारवि का सम्बन्ध चालुक्य-नरेश विष्णुवर्धन से (६१५ ई०) पल्लवनरेश सिंहविष्णु से (५७५ से ६०० ई०) तथा कोकरा के गगव शी नरेश दुर्विनीत (५८० ई० के आसपास) से अवश्य था। भारवि की प्रतिभा एव उनके महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' का वैशिष्ट्य देख कर विद्वान् नरेश दुर्विनीत ने किरात के १५ वे सर्ग की सस्कृतटीका लिखी थी। इन भूपतियो का एक साथ आकलन करने पर यह कहा जा सकता है कि यथावसर छत्रछाया मे जीवनयापन करने वाले महाकवि भारवि का समय छठी शती के से सातवी शती ई० के पूर्वार्ध तक रहा होगा।

५ यद्यपि उपर्युक्त साक्ष्यो के बाद अब अन्य किसी बहिरग साक्ष्य की अपेक्षा नही है, फिर भी एकाध उल्लेखनीय बाते रह जाती हैं। प्राय· समस्त पाश्चात्य एव पौरस्त्य विद्वान् यह तथ्य स्वीकार करते है कि भारवि पर कालिदास का और माघ पर भारवि का सुस्पष्ट प्रभाव है। दूसरी बात यह कि बाणभट्ट कादम्बरी की पुष्पिका मे जहाँ अपने अनेक पूर्ववर्ती कवियो का उल्लेख करते हैं वहीं भारवि के विषय मे मौन हैं। लगता है कि या तो भारवि बाणभट्ट के बीच दश-बीस वर्ष का अन्तर रहा होगा अथवा बाणभट्ट के समय तक भारवि की ख्याति ही अपनी पराकाष्ठा पर न पहुँच सकी होगी। अस्तु, बाण का समय स्पष्टत हर्ष का शासनकाल (६०८-६४८ ई०) है अत· भारवि का समय छठी शती का पूर्वार्ध ही होना सम्भव एव समुचित है ।

इन समस्त बहिरङ्ग प्रमाणो का निर्गलितार्थ यह है कि महाकवि भारवि का जन्म नासिक के समीपवर्ती अचलपुर ग्राम मे हुआ। उनके पिता का नाम नारायण-स्वामी था। उनका अपना मूलनाम दामोदर था। बीस वर्ष की नवीन अवस्था मे ही उन्हे काञ्चीनरेश सिंहविष्णु (५७५-६०० ई०) से राजकीय-सम्मान मिला। अत· निश्चय ही कवि की जन्मतिथि छठी शती ई० के उत्तरार्ध मे होगी। चालुक्य-नरेश विष्णुवर्धन, जब युवक थे तभी भारवि के आश्रयदाता बने। चूँकि विष्णुवर्धन की स्वतत्र राजवश-सस्थापन तिथि सन् ६१५ ई० है अतः सिद्ध है कि भारवि सातवी शती के पूर्वार्ध मे विकासपथ पर थे। यही भारवि महाकवि दण्डी के प्रपितामह और किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के प्रणेता है ।

---

१. अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० ६-७ (दक्षिणभारतीय ग्रन्थमाला—३)
तथा अवन्तिसुन्दरीकथासार, श्लोक— १९-२६ तक।

किन्तु यदि दामोदर एव भारवि एक ही व्यक्ति के दो नाम न हो तो ? तो भी कोई विशेष अन्तर नही, हानि केवल दामोदर की है। हाँ, तब महाकवि भारवि के परिचय मे परिवारविषयक थोडा परिवर्तन हो जायेगा। वह यह कि—भारवि विष्णुवर्धन, सिंहविष्णु, महेन्द्रविक्रम एव दुर्विनीत के आश्रय मे रहने वाले एक दाक्षिणात्य कवि थे। उनके परमप्रिय मित्र का नाम था 'दामोदर' जो कि दण्डी के प्रपितामह थे। भारवि का दाक्षिणात्य होना कई तथ्यो से सिद्ध हो जाता है-(क) किरात के एक श्लोक मे (१८।३) किरातवेषधारी शकर एव अर्जुन के युद्ध-प्रसग मे कवि ने सह्यपर्वत से सागरतरगो के टकराने' का औपम्य प्रस्तुत किया है—

> उरसि शूलभृत प्रहिता मुहु प्रतिहर्ति ययुरर्जुनमुष्टय. ।
> भृशरया इव सह्यमहीभृत पृथुनि रोधसि सिन्धुमहोर्मय. ।।

इस रमणीय औपम्य की अनुभूति प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति ही कर सकता है अतएव प्रो० आर० आर० भागवत का मन्तव्य है कि भारवि अवश्य ही पश्चिमी सागरतट के निवासी थे।

(ख) 'शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ' (किरात १।४६) 'तद्प्रियार्थमिव यातुमथास्त भानुमानुपपयोधि ललम्बे' (किरात ६।२) तथा 'सामि मज्जति रवौ न विरेजे (किरात ६।५) आदि समस्त सूर्यास्तवर्णनो मे कवि सूर्य का तिरोधान सागर मे ही देखता है जब कि कालिदास आदि उसे अस्ताचल पर तिरोहित होता हुआ देखते है।[1] इन साक्ष्यो से भी भारवि का दाक्षिणात्य होना सिद्ध होता है।

(ग) भारविकृत हिमालय-वर्णन भी उत्तरी-भारत विशेष करके हिमगिरि के प्रति उनकी अल्पज्ञता अथवा पूर्ण-अज्ञता का ही द्योतक है। अर्जुन की इन्द्रकील-शिखर यात्रा मे वैसा कुछ भी तत्त्व नही है जैसा कि मेघ की अलकापुरी यात्रा मे। भारवि मार्ग मे पडने वाले भौगोलिक स्थानो का सविस्तर उल्लेख तक नही कर सके हैं। निश्चय ही उत्तरापथ से उनका कुछ विशेष परिचय नही था।

भारवि के विषय मे अन्य ज्ञातव्य तथ्य उनके धर्म एव व्यक्तित्व से सम्बद्ध है। बहिरग प्रमाणो एव किरातार्जुनीय मे प्राप्त व्यक्तिगत अभिरुचि को सकेतित

---

१. यात्येकतोऽस्तशिखर पतिरोषधीनाम् आदि । शाकुन्तलम् ४।२ तथा
यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष. सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकर. करोति ।।
—रत्नावली ३।६

करने वाले पद्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाकवि भारवि का व्यक्तित्व बहुमुखी था । उन्होने काव्य, व्याकरण, नीति, काम, छन्दोऽलङ्कार एव अन्यान्य स्वयुगीन प्रचलित विद्याओ का भी पूर्ण अनुशीलन किया था । निरन्तर राजाओ के साहचर्य मे रहने के कारण भारवि राजनीति के उद्भट पण्डित हो गए थे । किरात का दूसरा सर्ग उनकी नयज्ञता का परिचायक है । राजशेखर के प्रामाण्यानुसार तो कालिदास एव भर्तृमेण्ठ की भाँति भारवि की भी परीक्षा उज्जयिनी मे ली गई थी । प्रमाण इस प्रकार है – 'श्रूयते चोज्जयिन्या काव्यकारपरीक्षा—

इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवय ।
हरिश्चन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ।।

तत्कालीन रसिक-समुदाय ने महाकवि भारवि को अत्यन्त सम्मान दिया था । उन्हे 'आतपत्रभारवि' की उपाधि भी मिली थी । जिस पद्य के कारण कवि को यह प्रतिष्ठा मिली थी वह किरात के पचमसर्ग मे इस प्रकार है—

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्भूत· सरसिजसम्भवः परागः ।
वात्याभिर्वियति विवर्जित. समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ।।५।३९

'पुष्पित कमलिनियो के वनप्रान्त से उत्पन्न कमलपुष्पचूर्ण आकाश में चारो ओर वातचक्र से आन्दोलित होकर इस प्रकार सुशोभित हो रहा है मानो कनकछत्र तन उठा है ।' कितनी अनूठी कल्पना है कवि की ! इससे कवि की कल्पनाशक्ति के साथ-साथ उसकी सौन्दर्यात्मक अनुभूति का भी हमे ज्ञान होता है ।

भारवि परमशैव थे । यह तथ्य उनके कथानकचयन से ही सिद्ध हो जाता है। ग्रन्थ के १८ वे सर्ग मे कवि ने अर्जुन के मुख से भगवान् पशुपति की जो भावभीनी स्तुति कराई है वह उनकी वैयक्तिक शिवभक्ति का ही स्वर है । कवि की एकमात्र उपलब्धि उसका महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' है जिसकी गणना 'बृहत्त्रयी' काव्यों मे (किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवधम् तथा नैषधीयचरितम्) की जाती है । इसमे कुल १८ सर्ग तथा १०४० श्लोक हैं ।

तीसरी समस्या—यह है कि महाकाव्य है क्या ? और एक महाकाव्य के रूप मे किरात के क्या वैशिष्ट्य हैं ? इस प्रसग मे अत्यन्त सक्षेप मे कुछ तथ्यो पर प्रकाश डाला जा रहा है । वस्तुतः जिस काव्य की चर्चा 'पहलीसमस्या' शीर्षक मे की गई है वही काव्य 'इन्द्रियमध्यस्थता' की दृष्टि से दो प्रकार का हो जाता है—दृश्य, जिसमे अभिनेय रूपक-वाङ्मय आता है और श्रव्य, जि समेमुक्तक एवं प्रबन्ध

रचनाएँ आती हैं। प्रबन्धकाव्य का ही सर्वोत्तम निदर्शन 'महाकाव्य' है। आचार्य भामह, आचार्य दण्डी एव आचार्य रुद्रट आदि ने क्रमश पाँचवी, सातवी तथा दसवी शती ई० मे महाकाव्य के लक्षणो को प्रस्तुत किया है, युगानुरोधवश उनमे परिमार्जन एव परिवर्धन भी किया है। किन्तु इस सन्दर्भ में, महाकाव्य का स्वरूप जानने के लिए सर्वाधिक सरल और सुन्दर परिभाषा १४ वी शती ई० मे उत्पन्न आचार्य विश्वनाथ ने अपने लक्षण-ग्रन्थ साहित्यदर्पण मे दी है। उनके कथनानुसार—'महाकाव्य एक सर्गबद्ध प्रबन्धकाव्य है जिसमे कि कोई देवता अथवा सद्वश मे उत्पन्न धीरोदात्त गुणो से अन्वित एक या अनेक नरेश नायक होते है। महाकाव्य का प्रारम्भ इष्ट-देवता के प्रति नमस्क्रिया, आशीर्वाद अथवा वस्तुनिर्देश से होता है। शृङ्गार, वीर एव शान्त मे से कोई एक रस अङ्गी होता है शेष अन्यान्य रस अङ्गभूत होते है। समस्त नाटकसन्धियाँ इसमे होती है। न बहुत छोटे और न बहुत बडे, ऐसे आठ से अधिक सर्ग होते है। प्रत्येक सर्ग मे एक ही प्रकार के छन्द होते हैं, हाँ सर्ग के अन्त मे छन्द परिवर्तन हो जाता है। कभी-कभी एक ही सर्ग मे अनेक छन्द भी होते हैं। सर्ग के अन्त मे भावी-सर्ग की कथा सूचित कर दी जाती है।

महाकाव्य मे यथावसर नगर, सागर, पर्वत, षड्ऋतु, चन्द्रसूर्योदयास्त, वनोपवन, जलविहार, सन्ध्या, प्रात., रजनी, मधुपान, रतोत्सव, सयोग, वियोग, विवाह, कुमारजन्म, रणप्रयाण, विजय एव अभ्युदयादि का निबन्धन होना चाहिए। पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) मे से कोई एक महाकाव्य का फल होता है। इस प्रकार के सल्लक्षणो से अलङ्कृत महाकाव्य किसी महापुरुष के जीवन का व्यापक-चित्र प्रस्तुत करता है।'[1]

किरातार्जुनीय एक ऐसा ही महाकाव्य है जिसमे साहित्यदर्पणकार द्वारा बताए गए प्राय. समस्त लक्षण घटित हो जाते है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे केवल एक-एक अनुच्छेद मे किरात के नामकरण, कलेवर, कथावस्तु, नेतृनिर्णय, छन्दोयोजना, रसपरिपाक एवं अन्यान्य काव्यात्मक वैशिष्ट्यो पर प्रकाश डाला जा रहा है।

---

१. सर्गबन्धो महाकाव्य तत्रैको नायक सुर।
सद्वश क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वित ॥
एकवशभवा भूपा. कुलजा बहवोऽपि वा।
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
अङ्गानि सर्वेऽपि रसा. सर्वे नाटकसन्धय.।
इतिहासोद्भव वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥
चत्वारस्तस्य वर्गा. स्युस्तेष्वेक च फलं भवेत्।

२ नामकरण—प्राय: महाकाव्यों के नाम उनके नायक के नाम पर (जैसे रघुवंशम्) कथानक के नाम पर (जैसे कुमारसम्भवम्) अथवा अपने रचयिता के नाम पर (जैसे भट्टिकाव्यम्) होते हैं।[1] महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य का नाम 'किरातार्जुनीयम्' रखा है जो कि कथानायक अर्जुन से सम्बद्ध है। वस्तुतः इस महाकाव्य के समस्त कथानक का केन्द्र है—'अर्जुन द्वारा किरातवेषधारी भगवान् शङ्कर से पाशुपतास्त्र की प्राप्ति'। इस प्रकार किरात (शिव) तथा मध्यमपाण्डव वीर अर्जुन के सुचरित से सम्बद्ध यह ग्रन्थ किरातार्जुनीयम् है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी —'किरातश्च अर्जुनश्च इति किरातार्जुनौ (द्वन्द्वसमास) तौ अधिकृत्य कृत काव्यम् इति किरातार्जुनीयम् (किरातार्जुन + छ प्रत्यय) महर्षि पाणिनि के मतानुसार शिशुक्रन्द, यमसभ, द्वन्द्वसमास तथा इन्द्रजनन आदि शब्दो से छ प्रत्यय होता है यदि उनके सम्बन्ध मे प्रणीत किसी ग्रन्थ की सज्ञा बनानी हो तो[2]।प्रस्तुत सन्दर्भ मे किरातार्जुन (जिसमे कि द्वन्द्व-समास है) से सम्बद्ध एक काव्य का नामकरण करना था अत: छ प्रत्यय हुआ। इस छ प्रत्यय को 'ईय' आदेश हो जाने के के कारण किरातार्जुनीयम् शब्द बनता है।[3] ग्रन्थवाची शब्द सदैव नपुसकलिंग मे प्रयुक्त होते हैं।

पृ० १६ का शेष

आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।।
क्वचिन्निन्दा खलादीना सताञ्च गुणकीर्तनम् ।
एकवृत्तमयै: पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घा- सर्गा अष्टाधिका इह ।
नानावृत्तमय: क्वापि सर्ग- कश्चन दृश्यते ।।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथाया सूचन भवेत् ।
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासरा ।।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागरा ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वरा ।।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादय ।
वर्णनीया यथायोग साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु ।।

१. कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा नामास्य—साहित्यदर्पण ।

२· शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छ । ४।३।८८

३ आयनेयीनीयिय. फढखछघाना प्रत्ययादीनाम् ।७।१।२

२ कलेवर—सस्कृत काव्यवाङ्मय मे कुछ उत्कृष्ट रचनाओ का बहुत आदर है। आलोचको ने उन्हे दो वर्गों मे विभक्त कर रखा है—बृहत्त्रयी और लघुत्रयी। बृहत्त्रयी मे वे तीन उत्कृष्ट काव्यकृतियाँ है जा पृथुलकलेवर है–भारविप्रणीत किरातर्जुनीयम्, माघप्रणीत शिशुपालवधम् और श्रीहर्षप्रणीत नैषधीयचरितम्। इसी प्रकार लघुत्रयी मे कविकुलगुरु कालिदास के तीन ग्रन्थो की गणना की जाती है जो अपेक्षाकृत छोटे किन्तु अत्यन्त सम्मानार्ह है—रघुवशम, कुमारसम्भवम तथा मेघदूतम्। इस प्रकार हम देखते है कि किरात बृहत् कलेवर वाला एक महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसमे कुल १०४० श्लोक है तथा १८ सर्ग है।

३. कथावस्तु—भारवि ने किरात का कथानक मूलत महाभारत के वनपर्व से लिया है। परन्तु कथा का विकास कवि ने अपनी प्रतिभा से किया है फलत: किरात की सुमधुर काव्यात्मकता महाभारत के केवल वर्णनप्राण कथानक मे नही प्राप्त होती। पाण्डवाग्रज महाराज युधिष्ठिर बारह वर्ष के अरण्यवास की बाजी लगा कर कौरवो से जुआ खेलते हैं और पराजय पाकर अपने चार अनुजो तथा प्रियतमा द्रौपदी के साथ 'द्वैतवन' मे रहने लगते है। वन मे उन्हे अपने शुभैषी महर्षि वेदव्यास के दर्शन होते है जिनमे भावी कौरवपाण्डवयुद्ध की अवश्यम्भाविता जानकर, साथ ही साथ आत्मोद्योग के लिए प्रेरणा भी पाकर वीर धनुर्धर अर्जुन पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिये भगवान् शङ्कर के प्रसादनार्थ इन्द्रकील पर्वत की यात्रा करते है। अर्जुन की सच्ची लगन एव कठोर तपश्चर्या से पिनाकी प्रसन्न हो जाते है ओर किरात का वेष धारण करके, एक वनशूकर के लिए अर्जुन से युद्ध छेड देते है। भयङ्कर सग्राम होता है और अन्तत पार्थ के प्रचण्डपराक्रम से अभिभूत शङ्कर अपने सहजरूप मे प्रकट हो जाते है। अर्जुन को अमोघ पाशुपत अस्त्रो की प्राप्ति हो जाती है। यही किरातार्जुनीयम् का सक्षिप्त कथानक है। यदि सर्गानुसारी व्याख्या की जाय तो इस महाकाव्य का यह स्वरूप होगा—१. वनेचर द्वारा सुयोधन की राज्यव्यवस्था का युधिष्ठिर के प्रति ज्ञापन तथा द्रौपदी का अमर्ष। २. युद्ध के लिए भीमसेन का उत्साह, कौरवो के प्रति क्रोध। युधिष्ठिर द्वारा क्रोधशमनोपाय तथा महर्षि व्यास का आगमन। ३. पाशुपतास्त्र की प्राप्ति के लिये व्यास द्वारा अर्जुन को प्रेरणा। अर्जुन का इन्द्रकील-शिखर की ओर प्रस्थान। ४ शरद्वर्णन। ५. हिमगिरि-वर्णन ६ से ११ तक युवति प्रस्थान, स्नानक्रीडा, सन्ध्या, सूर्यास्तगमन, चन्द्रोदय, सुराङ्गनाविहार एव सुर-सुन्दरी-सम्भोग आदि। १२ से १८ तक—शिवोपासना के लिए इन्द्र द्वारा अर्जुन को उत्साहदान, अर्जुन की कठोर तपश्चर्या, स्कन्दसेना से युद्ध, शङ्कर से युद्ध तथा पाशुपतास्त्र की प्राप्ति। स्पष्ट है कि कवि ने मूल-कथा मे मनोनुकूल परिवर्तन किया

है। महाभारत मे यह कथा वनपर्व मे वर्णित है । इस कथा को ध्यान मे रखते हुए महाकवि भारविकल्पित कथा मे कुछ विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं—

क—महाभारत-कथा मे महर्षि व्यास युधिष्ठिर को और युधिष्ठिर अर्जुन को पाशुपतास्त्र की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देते है परन्तु किरात मे महर्षि व्यास स्वयमेव अर्जुन को मन्त्र देते हैं !

ख—मूलकथा मे अर्जुन मन्त्रबल से इन्द्रकील शिखर पर पहुँचते हैं किन्तु किरात मे एक यक्ष उन्हे मार्गदर्शन कराता हुआ वहाँ ले जाता है ।

ग—महाभारत मे अर्जुन को तपविरत करने के लिए देवराज इन्द्र स्वय आते है परन्तु किरात मे वे सर्वप्रथम गन्धर्वों एव अप्सराओ को प्रेषित करते हैं समाधि-भग करने के लिये और बाद मे स्वय आकर अर्जुन को प्रेरणा दे जाते है शिवोपासना के लिए ।

घ—वनेचर का कुरुप्रदेशवृत्तान्त-कथन, हिमालय, गन्धमादन तथा इन्द्रकील शिखरो का युगपद् धारावाही वर्णन, अर्जुन की कठोर तपश्चर्या का चराचर पर प्रभाव तथा सुरसुन्दरी सम्भोगादि वर्णन, महाकवि भारवि की अपनी कल्पनाएँ है जो कि महाकाव्य के विकास मे प्रचुर सहयोग देती हैं।

ङ—महाभारत मे किरातवेषधारी शङ्कर से अर्जुन का केवल मल्लयुद्ध होता है तथा पार्वती (किराती) एव शिव के गण (सभी किरात) इसके द्रष्टा बनते हैं परन्तु प्रस्तुत महाकाव्य मे सर्वप्रथम अर्जुन स्कन्द के सेनापतित्व मे आई हुई शाङ्करी-सेना से युद्ध करके विजयी होते है, बाद मे उनका युद्ध शङ्कर से भी होता है।

च—महाभारत में किरातवेषधारी शिव, वीर अर्जुन के धराशायी हो जाने पर प्रकट होते है किन्तु किरात मे, आकाश मे उछलते समय अर्जुन द्वारा पैर पकड लिए जाने पर ।

छ—महाभारत मे पाशुपतास्त्र-प्राप्ति के बाद अर्जुन इन्द्र के साथ स्वर्गलोक की भी यात्रा करके अन्यान्य दिव्यास्त्रों की प्राप्ति करते है परन्तु किरात मे अस्त्रप्राप्ति के बाद वे सीधे अपने भाइयो के पास आते है ।

४ नेतृनिर्णय—किरातार्जुनीयम् का नायक कौन है ? यह प्रश्न प्राय· ग्रन्थ के टीकाकारो अथवा अधुनातन विद्वानो के लिए भी विवादास्पद रहा है। दो परम्पराये हैं इस विषय मे । एक तो युधिष्ठिर के नायकत्व का अनुमोदन करती है और दूसरी अर्जुन के नायकत्व का। पहली परम्परा को मानने वाले किरात के एक टीकाकार चित्रभानु हैं। उनके तर्क इस प्रकार हैं--यदि अर्जुन कथानायक होते

तो कथारम्भ मे ही उनकी नायक के रूप मे स्वतन्त्र स्थापना होनी चाहिये थी। परन्तु कथारम्भ तो ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर से होता है और प्रधानता भी उन्ही की है। कथा के आदिभाग मे ही नही, मध्य एव अन्त भागो मे भी युधिष्ठिर की ही प्रतिष्ठा है। यद्यपि दिव्यास्त्रलाभ अर्जुन को हुआ किन्तु उस अस्त्र का प्रयोजन युधिष्ठिर के ही पक्ष में है। वह उनके शत्रुदलोच्छेदन कार्य मे साधन रूप है अत अर्जुन द्वारा प्राप्ति मात्र होने से भी कोई विशेष अन्तर नही पडता। यदि यह कहा जाय कि ग्रन्थ का नाम 'किरातयुधिष्ठिरीयम्' क्यो नही रख दिया गया ऐसी स्थिति मे? तो इसका उत्तर प्रस्तुत करते हुये चित्रभानु कहते है कि चूँकि अर्जुन के पराक्रम से ही कुरुकुल का विनाश हुआ अतएव प्रधानता उन्ही के चरितवर्णन की होनी चाहिये। फिर भी है तो वे युधिष्ठिर के अग ही! महाभारत का भी नामकरण 'भरतो' पर आश्रित है परन्तु चरितवर्णन प्रायेण युधिष्ठिर का ही है। इस प्रकार कथानायक युधिष्ठिर ही है।

परन्तु टीकाकार चित्रभानु के ये तर्क बहुत स्थिर और सुदृढ नही हैं। यह कहना असगत है कि कथा का आदिमध्यावसान युधिष्ठिर की ही प्रमुखता से सवलित है। बल्कि सत्य तो यह है कि तृतीय सर्ग से अन्तिम सर्ग (१८ वाँ) तक अर्जुन ही अर्जुन दिखाई पडते है। प्रथम सर्ग मे भी बार-बार कवि ने यही भाव उपन्यस्त किया है। सुयोधन को युधिष्ठिर जैसे धर्मप्राण से तिलभर भी डर नहीं है पर हाँ, अर्जुन का नाम सुनते ही वह काँप उठता है। 'अनुस्मृताखडलसूनुविक्रम···तवाभिधानात् व्यथते नतानन:' इसका प्रमाण है। द्रौपदी द्वारा किये गये स्तवनो मे भी अर्जुन के ही प्रति सर्वाधिक निष्ठा व्यक्त होती है। वह युधिष्ठिर, भीम तथा नकुल-सहदेव के प्रति सकरुण है तो केवल उसकी दिनचर्या, अलकरण अथवा कोमल-सौख्य मे विपर्यय होने के कारण किन्तु पार्थ के प्रति उसकी करुणा उनके अप्रतिम, लोकातिशायी शौर्य के ही कारण है, क्यो कि वे उत्तरकुरु-प्रदेश के विजेता, वासवोपम, प्रभूत वसुप्रदाता, तथा वीर धनञ्जय है। भला इससे अधिक और क्या वैशिष्ट्य चाहिये एक नायक के लिये? किसी भी महाकाव्य का परम प्रयोजन नायकाश्रित ही होता है। किरात का परमप्रयोजन है—'पाशुपत अस्त्र का लाभ' और वह लाभ भी अर्जुन को हुआ है। नायक के नाम पर ही ग्रन्थ का नामकरण हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टि से अर्जुन ही कथानायक सिद्ध होते है। और फिर अर्जुन का नायक होना युधिष्ठिर के सम्मान का ही सूचक है क्यो कि—'सर्वतो जयमन्विच्छेत् पुत्रादिच्छेत् पराजयम्'। पुत्र छोटे भाई को भी कहते हैं—सूनु पुत्रेऽनुजे रवौ।

किरात के दूसरे स्वनामधन्य टीकाकार आचार्य मल्लिनाथ भी इसी मत के समर्थक हैं। उन्ही के शब्दो मे—

नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजः
तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्य-चरितो दिव्यः किरातः पुनः।
शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ॥

५ **छन्दोऽलङ्कारयोजना**—महाकवि भारवि ने सम्पूर्ण महाकाव्य मे विविध छन्दो एव अलङ्कारो का प्रयोग किया है। यद्यपि महाकाव्यलक्षण के अनुसार ही कवि ने सर्ग के अन्त मे छन्दःपरिवर्तन कर दिया है फिर भी बहुलता की दृष्टि से सम्पूर्ण महाकाव्य की छन्दोयोजना इस प्रकार है—१. वंशस्थ (अन्त मे पुष्पिताग्रा तथा मालिनी) २. वियोगिनी (अन्त मे उपजाति, पुष्पिताग्रा एव वसन्ततिलका) ३ उपजाति (अन्त मे वंशस्थ, वियोगिनी एव मालिनी) ४. वंशस्थ (अन्त मे पुष्पिताग्रा एवं मालिनी) ५ द्रुतविलम्बित (औपच्छन्दसिक, क्षमा, प्रमिताक्षरा, प्रभा, रथोद्धता, जलधरमाला, प्रहर्षिणी, जलोद्धतगति, वसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, मालिनी) ६ प्रमिताक्षरा (अन्त मे वसन्ततिलका तथा मालिनी) ७. प्रहर्षिणी (अन्त मे वसन्त०) ८. वंशस्थ (वसन्ततिलका) ९ स्वागता (अन्त मे वसन्त० तथा मालिनी) १०. पुष्पिताग्रा (अन्त मे शिखरिणी) ११ श्लोक (अन्त मे उपजाति तथा वसन्त०) १२. उद्गता (अन्त मे प्रहर्षिणी) १३. औपच्छन्दसिक (अन्त मे वसन्त०) १४ वंशस्थ (अन्त मे द्रुतविलम्बित एवं मालिनी) १५. श्लोक (अन्त मे वियोगिनी, उपजाति, वंशस्थ एव वसन्त०) १६. उपजाति (अन्त मे मालिनी एव वसन्त०) १७ उपजाति (अन्त मे प्रहर्षिणी एव मालिनी) १८. द्रुतविलम्बित (रथोद्धता, प्रमिताक्षरा, अपरवक्त्र, प्रमुदितवदना, उपजाति, प्रमिताक्षरा, शालिनी, औपच्छन्दसिक, स्वागता, मत्तमयूर, वंशस्थ, प्रहर्षिणी, मालिनी, एव शिखरिणी)।

महाकवि भारवि अत्यन्त सफलता पूर्वक प्रायः समस्त प्रमुख अलङ्कारो का प्रयोग करते है। किरातार्जुनीयम् का साकल्येन परिशीलन करने पर जो अलङ्कार दृष्टिगोचर होते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—अनुप्रास, अतिशयोक्ति, अनुमान, अर्थान्तरन्यास, अर्थापत्ति, अर्धभ्रमक (५।२७) उत्प्रेक्षा, उपमा, उदात्त, ऊर्जस्वल (१०।५१) एकावली, कारणमाला, काव्यलिङ्ग, तद्गुण, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, परिकर, परिणाम, परिवृत्ति, पर्याय, पर्यायोक्ति, प्रेय (५।५१) भाविक,

भ्रान्तिमान्, माला, मालोपमा, मीलन, यथासख्य, यमक, रसवत्, रूपक, विभावना, विरोध, विरोधाभास, विशेषोक्ति, विषम, व्यतिरेक, श्लेष, सङ्कर, समुच्चय, समासोक्ति, समाहित, सहोक्ति, सामान्य, स्मरण, स्वाभावोक्ति सशय, अपह्नुति एव हेतूत्प्रेक्षा। स्थानाभाव के कारण इन अलङ्कारो के महाकाव्यगत सन्दर्भ का सविस्तर व्याख्यान नही किया जा रहा है। इन अलङ्कारो के साथ ही साथ महाकवि ने चित्रकाव्य के अनेक स्वरूपो (गोमूत्रिका, द्व्यक्षर, निरौष्ठ्य, प्रतिलोम, प्रतिलोमानुलोमपाद, श्रृङ्खलायमक एव सर्वतोभद्र आदि) का भी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है।

६. **रसपरिपाक**—आचार्य मल्लिनाथ के अनुसार किरात का प्रधान रस 'वीर' है। श्रृङ्गार आदि उसके अङ्ग है—'श्रृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः।' यह तथ्य सुस्पष्ट है कि महाकाव्य का आद्यन्त स्वरूप उत्साह, शौर्य एव पराक्रमादि का परिचायक है। पुरुषार्थचतुष्टय का एक विशेष अग 'अर्थ' इसका अभिमत फल है, फलतः सम्पूर्ण महाकाव्य मे वीर-रस का ही प्रभावातिशय है। परन्तु महाकवि ने इस 'वीर' को पुष्ट करने के लिए अन्यान्य रसो का प्रयोग भी ग्रन्थ मे किया है। अर्जुन के इन्द्रकीलशिखर-प्रयाण मे द्रौपदी-गत वियोग-श्रृङ्गार तथा गन्धर्वोपभोग प्रसग मे सयोग श्रृङ्गार, और किरातार्जुन युद्ध मे रौद्र एव भयानक रसो का भी परिपाक दृष्टिगोचर होता है। सदुक्तिकर्णामृतकार की तो घोषणा है—'प्रकृतिमधुरा भारविगिरः।' और शारदातनय के मतानुसार भारवि की वाणी मे भाव एव रस का तादात्म्य है—'तादात्म्य भावरसयो भारविः स्पष्टमूचिवान्।' वस्तुतः महाकवि ने समस्त रसो का परिपाक ग्रन्थ मे नही प्रस्तुत किया है परन्तु यह सच है कि कवि द्वारा प्रयुक्त रस प्रसङ्गानुकूल है। अर्जुनकृत ईशस्तुति देवविषयक रति-भावना का सर्वोत्तम निदर्शन है।

७. **भारवेरर्थगौरवम्**— भारवि के महाकाव्य का सर्वश्रेष्ठ वैशिष्ट्य है उनका अर्थगाम्भीर्य जिसका कि तात्पर्य है—'अल्प शब्दो मे प्रभूत अर्थ का सन्निवेश।' भारवि की कविता का आदर्श ही अप्रतिम है। उनका व्यक्तिगत अभिमत यह है कि 'सुस्पष्ट वर्णालङ्कारो से विभूषित, शत्रुओ को भी वशीभूत कर लेने वाली, प्रसादगुणोपेत, गम्भीर पदो वाली सरस्वती पुण्यहीनो के मुख से कभी प्रकट ही नही होती'। देखिये—

विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।
प्रवर्तते नाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती ॥ कि० १४।६

भारवि की पदावली परिस्फुट है, अस्पष्ट नही। अर्थगाम्भीर्य से सवलित है,

अर्थों की पुनरुक्ति से परे है और आकांक्षित भाव को प्रकट करने मे सर्वथा समर्थ है। कवि महाराज युधिष्ठिर के मुँह से अपनी वाणी का यह रमणीय आदर्श प्रस्तुत करता है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम् ।
रचिता पृथगर्थता गिरा न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित् ।। कि० २।२७

भारवि की वाणी का अर्थगौरव प्रथम सर्ग से ही प्राप्त होने लगता है। सुयोधन की राज्यव्यवस्था का सम्यगाकलन करके जब वनेचर द्वैतवन मे महाराज युधिष्ठिर के पास आता है तभी उसके 'सन्देशज्ञापन' मे हम अर्थगौरव का प्रथम दर्शन करते है। कवि कहता है—'स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे।' वस्तुत॰ यही एक वाक्य अर्थगौरव का लक्षण भी है। कवि ने प्रथमसर्ग के अनेक पद्यो के अन्तिम चरण मे सदुक्तियो का प्रयोग किया है। ये सदुक्तियाँ अल्पशब्दा होकर भी विपुल अर्थ का प्रकाशन करती है—'हित मनोहारि च दुर्लभ वचः ।, विचित्ररूपा खलु चित्तवृत्तयः ।, वर विरोधोऽपि सम महात्मभि. ।, आदि इसी प्रकार की उक्तियाँ है । अर्थगाम्भीर्य किरात के प्रत्येकपात्र के वचनोपन्यास मे प्राप्त होता है। दूसरे सर्ग मे यदि भीम 'उपपत्तिमद्' एव 'ऊर्जिताश्रय' वचन प्रस्तुत करते है तो द्रौपदी भी अर्थगौरव मे वागीश बृहस्पति तक को विस्मित कर दती है—'अपि वागधिपस्य दुर्वच वचन तद्विदधीत विस्मयम्,' । जैसे अल्पमात्रावाली शक्तिमयी औषधि मे गुणाधिक्य होता है उसी प्रकार द्रौपदी की वाणी व्यथित करने वाली होकर भी अन्तत सुख ही देने वाली है। महाकवि भारवि के ही शब्दों मे—

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन् वचसि क्षतौजसाम् ।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ।।२।४,

व्यवहारज्ञान कराना भारवि के काव्य का प्रमुख लक्ष्य है। जो व्यक्ति शठ के साथ शठता का व्यवहार नही करता वह मूर्ख है। क्योकि दुष्ट लोग ऐसे सीधे-सादे व्यक्ति का रहस्य जान कर उसी प्रकार उसे विनष्ट कर देते है जैसे तीखे बाण कवचविहीन योद्धा को—

व्रजन्ति ते मूढधिय पराभव भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसवृताङ्गान्निशिता इवेषव. ।।१।३०

कितनी सटीक बात है यह कि जिस व्यक्ति का क्रोध सफल होता है समस्त प्राणी उसके वशीभूत हो जाते है परन्तु खिस्सू व्यक्ति के खुश या नाराज होने से लोगो का कुछ भी बनता-बिगडता नही। कवि कहता है—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदा भवन्ति वश्या स्वयमेव देहिन ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादर. ।।१।३

भारवि का यही अर्थगाम्भीर्य उनके प्रकृतिवर्णनो मे भी प्राप्त होता है। कवि ने साधारण सवादो मे भूपतियो का 'निसर्गदुर्वोधचरित' एव उनका 'निगूढतत्त्व नयवर्त्म' समाहित कर दिया है। सुयोधन यथोचित रूप से समय का विभाजन करके, समान आदर के साथ अर्थ, धर्म एव काम का सेवन करता है, फलत कभी भी उसके इस पुरुषार्थत्रय मे कोई विरोध नही पैदा होता। दुर्योधन के एक वैशिष्ट्य-ख्यापन मे कवि नीतिशास्त्र का एक अध्याय ही उँडेल देता है –

असक्तमाराधयतो यथायथ विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ।१।११
इसी प्रकार की अर्थगुरुता १।१५ सख्यक पद्य मे भी प्राप्त होती है।

ऊपर भारवि के प्रकृतिवर्णन की बात कही गई है। भले ही भारवि कालिदास की भाँति प्रकृति को मानवीयभावो की सन्देशवाहिनी न बना सके हो, इतना तो स्पष्ट है कि किरात मे वर्णित प्रकृति कल्पनाचारुत्व मे, रसचर्वणा मे और सर्वाधिक अर्थगौरव द्योतित करने मे, अत्यन्त उदग्र है। कही–कही तो कवि कालिदास की ही भाँति जड-चेतन को एकीभूत कर देता है। प्रकृति एव नवयुवती के अनुपम सौन्दर्य को एक ही तुला पर तौलते हुये कवि शिशिरोपगम प्रस्तुत करता है—

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवार. ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशसी समुपययौ शिशिर स्मरैकबन्धु· ।।

शरद् ऋतु मे शिरीषपुष्प के समान हरितवर्ण शुकसमूह मूँगे के समान लाल चञ्चुपुट मे धान की पीली बालियाँ लिए आकाश मे उडा जा रहा है। इस प्रकार क्रमश ·हरित, रक्त, पीत एव नील वर्णो के परस्पर मिश्रण से आकाश मे एक मनोहर इन्द्रधनुषी शोभा की सृष्टि हो रही है—

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितै· शिखा· पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रिय गोत्रभिदोऽनुगच्छति ।।४।३६

ये है भारवि की कविता के कुछ प्राञ्जल उद्धरण जिनमे उनका काव्यात्मक-वैशिष्ट्य (अर्थगौरव) साकार हुआ है। कवि दीर्घकाय समासो का प्रयोग नही करता अतएव उसकी कविता मे क्लिष्टत्वदोष नही है। चित्रकाव्यो मे अवश्य ही कुछ अर्थावगति मे बाधा होती है परन्तु उसका कारण कवि का अपना स्वारस्य नही प्रत्युत 'चित्रकाव्यता' मात्र है। उदाहरण के लिये पन्द्रहवे सर्ग का यह एकाक्षर श्लोक देखे-

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुम् ।।१५।१४

भारवि अत्यन्त निपुण वैयाकरण है अत: अप्रसिद्ध पाणिनीयनियमो का उदाहरण प्रस्तुत करने मे वह कालिदास एव माघ से भी आगे है। युद्धप्रसङ्गो मे, चित्रकाव्यो मे तथा गूढ-नीति का प्रकाशन करने वाले पद्यो मे भाषा अत्यन्त भावमयी अथच नीरस सी प्रतीत होती है । विशेषत- प्रथम तीन सर्गो मे ! इसी कारण इन्हे 'पाषाणत्रय' कहा जाता है।

वस्तुत भारवि-काव्य, नारियल के समान कठोर भाषा की कञ्चुलिका मे तिरोहित है । परन्तु यह बहिरग कठोरता ही उसकी इयत्ता नही । नारियल के अन्तराल की ही भाँति भारवि के काव्य का अन्तराल भी, रसगर्भनिर्भर, सरल एव सुमधुर है । आचार्य मल्लिनाथ ने ठीक ही कहा है—

नारिकेलफलसमित वचो भारवे: सपदि तद् विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भर सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ।।

इसी प्रकार की प्रशसा भारतचरित के प्रणेता कृष्णकवि ने भी की है जिसके अनुसार भारवि की कविता 'सत्पथदीपिका' सिद्ध होती है—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थ प्रदर्शयन्ती रसमादधाना ।
सा भारवे: सत्पथदीपिकेव रम्या कृति कैरिव नोपजीव्या ।।

चौथी समस्या—किरातार्जुनीयम् के टीकाकार की है। अद्यावधि प्राप्त होने वाले सस्कृतसाहित्य के इतिहासो मे विभिन्न विद्वानो द्वारा किरात की अनेक टीकाओ की गणना की गई है । श्री कृष्णमाचारियर महोदय ने अपने ग्रन्थ मे किरात की कुल ३४ टीकाओ का उल्लेख किया है । परन्तु उनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध, प्रामाणिक एव सारवती टीका आचार्य मल्लिनाथ की है जिसका नाम — घण्टापथ आचार्यमल्लिनाथ ने अपनी टीकाओ मे आत्मविषयक जो सूचनाएँ दी है उनसे उनके व्यक्तित्व पर प्रभूत प्रकाश पडता है । टीकाकार मल्लिनाथ काश्यपगोत्रोत्पन्न तेलुगु-ब्राह्मण थे । उनके पितामह का नाम भी मल्लिनाथ था और पिता का नाम कार्दिन्! पेड्डिभट्ट तथा कुमारस्वामी उनके पुत्र थे । इन्ही कुमारस्वामी ने सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषणम्' की टीका लिखी ।

मल्लिनाथ की आनुवशिक उपाधि 'कोलाचल' तथा व्यक्तिगत उपाधि, महोपाध्याय' थी । वे वैशेषिक, वेदान्त, सारूय, योग एव न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे । उन्होने स्वय घोषणा की है—

वाणी काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकीम्
अन्तस्तन्त्रमरस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।

वाचामाचकलद्रहस्यमखिल यश्चाक्षपादस्फुरा
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषा सौजन्यजन्य यश ।।

आचार्य मल्लिनाथ का समय १४ वी शती का उत्तरार्ध माना जाता है। काञ्जीवरम् के समीप प्राप्त होने वाले एक अभिलेख के अनुसार विजयनगर नरेश देवराज ने उन्हे एक विवाद के निर्णयार्थ आमन्त्रित किया था। इसके अनुसार उनका समय १४००-१४ ई० सिद्ध होता है। दूसरी ओर स्वय आचार्य मल्लिनाथ ने कोमटिवेमविरचित 'साहित्यचिन्तामणि' से (सन् १४०६ ई०) उद्धरण लिया है। अवश्य ही उद्धरण का आदान करते समय मल्लिनाथ प्रौढ अवस्था के रहे होगे। श्री के० बी० पाठक जी ने इन्ही प्रमाणो के आधार पर उनका समय १४ वी शती ई० का उत्तरार्ध निश्चित किया है।

'आचार्य मल्लिनाथ ने 'उदारकाव्य' तथा 'रघुवीरचरित' नामक मौलिक काव्यो का भी प्रणयन किया' ऐसी जनश्रुति है। परन्तु उनकी अमरकीर्ति की परिचायक उनकी अप्रतिम टीकाएँ ही है। कालिदासप्रणीत रघुव श, कुमारसम्भव एव मेघदूत पर सञ्जीवनी, भारविप्रणीत किरातार्जुनीय पर घण्टापथ, माघप्रणीत शिशुपालवध पर सर्वङ्कषा, भट्टिप्रणीत रावणवध तथा श्रीहर्षप्रणीत नैषधीयचरित पर जीवातु टीका आचार्य मल्लिनाथ ने लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होने विद्याधर-प्रणीत लक्षणग्रन्थ 'एकावली' वरदराजप्रणीत 'तार्किकरक्षा', प्रशस्तपादभाष्य, लघुशब्देन्दुशेखर तथा नलोदय प्रभृति ग्रन्थो पर भी टीकाये लिखी। आचार्य मल्लि-नाथ की टीकाशैली अत्यन्त रमणीय है। वे प्रत्येक शब्द की आमूलचूड व्याख्या प्रस्तुत करते हैं तथा मूल लेखक के अभिप्राय को अधिक से अधिक समझने का प्रयास करते है। इस विषय मे उन्होने आदर्श स्वय निश्चित किया है—

इहान्वयमुखेनैव सर्व व्याख्यायते मया।
नामूल लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ।।

अपनी टीकाओ मे मल्लिनाथ पौराणिक-कथाओ का अनेकश' उल्लेख करते हैं जिससे उनकी बहुश्रुतता का बोध होता है। कोश, व्याकरण एव छन्द का व्याख्यान भी वे अत्यन्त निपुणता से करते हैं। न अनपेक्षित व्याख्यानो से उन्होने ग्रन्थ का उपबृंहण किया है और न ही आत्मवैदुष्य का प्रदर्शन। प्रायः अपनी समस्त टीकाओ मे उन्होने कवि की काव्यात्मक एव काव्यशास्त्रीय ग्रन्थियो को सुलझाने का प्रयास किया है। किरातार्जुनीय की मल्लिनाथी टीका का नाम है 'घण्टापथ' जिसका शाब्दिक तात्पर्य है—'राजमार्ग'। महाकवि भारवि की जटिल एव विषम पदावली का निबन्धन इतना दुरूह एव कण्टकाकीर्ण है कि पाठक सुखपूर्वक उसमे प्रवेश कर

ही नही सकता । फलत: आचार्य मल्लिनाथ उस दुर्गम काव्यसौध तक पाठक को पहुँचाने के लिये एक 'घण्टापथ' का निर्माण करते हैं—

नानानिबन्धविषमैकपदैर्नितान्त साशङ्कचङ्क्रमणखिन्नधियामशङ्कम ।
कर्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे घण्टापथ कमपि नूतनमातनिष्ये ।।

किरात की अन्य टीकाओ मे सर्वाधिक लोकप्रिय टीका 'शब्दार्थदीपिका' है जो महाकाव्य के केवल प्रथम तीन सर्गो पर है । इसके प्रणेता श्री चित्रभानु हैं जिनका कि समय कुछ निश्चित नही । इसका प्रकाशन श्री टी० गणपति शस्त्रीने 'त्रिवेन्द्रम् सस्कृतग्रन्थमाला' मे किया है ।

पांचवीं समस्या—किरातार्जुनीयम् प्रथमसर्ग की है, जो पाठ्यक्रम में निर्धारित काव्याश है । कुछ अपेक्षित तथ्यो पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

किरातार्जुनीय प्रथमसर्ग का कथानक महाराज युधिष्ठिर द्वारा भेजे गए एक गुप्तचर के आगमन से प्रारभ होता है । पाण्डवबन्धुओ के अरण्यवासी हो जाने पर समृद्ध कुरुप्रदेश की कैसी दशा हुई, कही स्वार्थी सुयोधन ने आत्मसुख के लिए प्रजा का हितचिन्तन विस्मृत ही न कर दिया हो ! इन समस्त तथ्यो को सविस्तर जानने के लिये ही कुरुप्रदेश के भूतपूर्व नरेश युधिष्ठिर ने उस वनेचर को भेजा था । वनेचर लौटकर दुर्योधन के शासनप्रबन्ध, पाण्डवभय, सेचनपबन्ध, अनुजीवियो के प्रति सद्व्यवहार, सैनिको के प्रति सदयभाव, धर्मप्रियता, यज्ञयागादि के प्रति आस्था तथा एवविध अन्यान्य गुणो का भी विस्तृत-वर्णन प्रस्तुत करता है ।

सुयोधन की इस कल्पनातीत चतुर्मुखी समृद्धि का वृत्त महाराज युधिष्ठिर राजमहिषी द्रौपदी से कहते है । द्रौपदी का नारीहृदय त्रकृत अपमानो को याद करके उनका यह अभ्युत्थान नही सह पाता और वह फूट पडती है । भीम, अर्जुन, नकुल-सहदेव तथा स्वय धर्मराज के ही पूर्व-वैभवो का स्मरण कराती हुई वह उनके साम्प्रतिक दैन्य के प्रति महाराज का ध्यान आकृष्ट करती है और उन्हे शत्रुओ से युद्ध करने की प्रेरणा देती है । अन्त मे द्रौपदी द्वारा अभिव्यक्त की गई धर्मराज के प्रति मङ्गलकामना से ही सर्ग की समाप्ति हो जाती है ।

प्रथम सर्ग मे कुल ४६ पद्य है । पहले के ४४ पद्य वशस्थ वृत्त मे ४५ वाँ पुष्पिताग्रा वृत्त मे और ४६ वाँ मालिनी छन्द मे । इन छन्दो के स्वरूप यथावसर व्याख्यात किये गये हैं । प्रथमसर्ग के प्रमुख अलङ्कारो मे अनुप्रास, यमक, पूर्णोपमा, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, सहोक्ति एव उत्प्रेक्षा आदि है जिनके लक्षण यथावसर श्लोको मे सुस्पष्ट कर दिये गये है ।

किरात का प्रथम सर्ग महाकवि भारवि के अर्थगौरव का, उनकी वर्णन-चातुरी का, राजनीति-ज्ञान का, मनोहरकविकल्पना एव भावाभिव्यक्ति-क्षमता का सर्वोत्तम निदर्शन है। दुर्योधन का शासन-प्रबन्ध और द्रौपदी की प्रतिक्रिया – यही दोनो प्रथमसर्ग के प्रतिपाद्य के दो मूलस्तम्भ हैं। सुयोधन ने यद्यपि विशाल कुरुप्रदेश को हस्तगत कर लिया है, वह यह भी जानता है कि पाण्डवबन्धु कान्तारवासी हैं, फिर भी वह रातदिन भयभीत ही रहता है। क्योकि वह साम्राज्य उसे अपनी योग्यता एव प्रजाप्रियता से नही, जुआखोरी से मिला है। वह राज्य 'दुरोदरछ्द्म—जित' है फलत. अब आगामी बारह वर्षो मे दुर्योधन अपने को प्रजा का 'न्याय्य-सरक्षक' सिद्ध कर देना चाहता है। अपनी इस आकाक्षा की पूर्ति के लिए सुयोधन ने सारे कुरुप्रदेश को नहर आदि का सुप्रबन्ध करके 'अदेवमातृक' बना दिया है। कुरुप्रदेश की प्रजा बिना किसी विशेष परिश्रम के ही धन-सम्पत्ति से मालामाल हो उठी है—

'वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन् कुरवश्चकासति ।'

दुर्योधन ने अपने अनुजीवियो से मित्र जैसा, मित्रो से भाई जैसा और भाइयो से स्वामी जैसा व्यवहार कर रखा है। उसने नवयौवन-सम्पन्न अनुज दुश्शासन को युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया है और स्वय पुरोहितो के निदेशानुसार रातदिन यज्ञयागादि धर्मानुष्ठानो मे सलग्न हो उठा है—

'मखेष्वखिन्नोऽनुमत· पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ।'

सुयोधन सदैव एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार ही कार्य करता है। यही कारण है कि समपक्षपात-बुद्धि से प्रत्येक का सेवन करने के कारण 'धर्म-अर्थ और काम' इनका त्रिगण कभी भी परस्पर बाधा नही डालता— 'न बाधतेऽस्य त्रिगण· परस्परम्' ! दुर्योधन की दण्डव्यवस्था सब के लिए समान है। एक न्यायप्रिय नरेश के रूप मे वह अपने पुत्र तक को भी समुचित दण्ड देने के लिए समुद्यत रहता है— 'रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ।' अपनी लोकातिशायिनी समृद्धि के कारण सुयोधन कुबेर के समान (वसूपमान) हो गया है। वह इतना गुणशाली हो गया है कि माँ वसुन्धरा स्वय उसकी भव्याकाक्षिणी बन गई है। कवि कहता है—

उदारकीर्तेरुदय दयावतः प्रशान्तबाध दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वय प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ।।

सुयोधन को अपने अनुचरो, सैनिको एवं सहायको से अनपायिनी प्रीति है।

वह सेवको को कितना चाहता है, इसका एकमात्र प्रमाण वे पारितौषिक हैं जो कर्तव्यपालन के बाद सेवको को प्राप्त होते हैं—'कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पद ।' न सुयोधन को कभी आँख तरेरने की अपेक्षा हुई, न धनुष उठाने की, क्योकि अधीनस्थ नृपतिगण उसके इतने वशवर्ती है कि रातदिन आदेशपालन के लिए लालायित रहते है—उह्यते नराधिपैर्माल्यमिवानुशासनम्' । सैनिक सुयोधन को इतना मानते है कि प्राण देकर भ' उसकी सिद्धि चाहते है—'प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभि' समीहितुम् ।'

यह है सुयोधन के रमणीय शासनप्रबन्ध एव उसके वैभवोत्कर्ष का एक चित्र जिसे महाकवि भारवि ने किरात के प्रथमसर्ग मे प्रस्तुत किया है । अब इसी सन्दर्भ मे कथानक के दूसरे स्तम्भ 'द्रौपदी' के विषय मे कुछ तथ्यो पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

द्रौपदी एक नारी है, नारी स्वभाव से ही सुखवैभव से प्रीति रखने वाली होती है । और फिर द्रौपदी तो साधारण नारीस्तर से कही ऊपर थी ! पाञ्चालनरेश द्रुपद की कन्या, भरतवश की कुलवधू, पञ्चपाण्डवो की राजमहिषी, मनोरम, हृद्य एव अगणित सद्गुणो से मण्डित! ऐसी राजकन्या यदि अपने पतियो की अज्ञता एव अकर्मण्यता के कारण दर-दर की ठोकरे खाती फिरे, भिखारिनो जैसा जीवन-यापन करे, तो शत्रुवर्ग का निरन्तर अभ्युत्थान सुन कर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ? वस्तुत इसी मानसिकस्थिति मे द्रौपदी सुयोधन की अभ्युत्थानकथा अपने ही पति के मुँह से सुन एव सह नही पाती । स्त्रियोचित मर्यादा का बाँध टूट जाता है और द्रौपदी अपनी विषाक्त अन्तर्वेदना, व्यङ्ग्यवाणो के रूप मे प्रकट करने लगती है । अपनी विवशता को वह जानती है, स्वीकार भी करती है—'तथापि वक्तु व्यवसाययन्ति मा निरस्तनारीसमया दुराधय ।'

द्रौपदी युधिष्ठिर को उलाहना देती है कि उन्होने अपनी मनोरम सुन्दरा, एव सद्वशोत्पन्न प्रियतमा की ही भाँति साम्राज्यलक्ष्मी को भी गॅवा दिया है और इस कुचक्र के उत्तरदायी वे स्वय है । क्योकि यदि वे द्यूतव्यसनी न होते तो यह स्थिति ही क्यो आती—

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधन कुलाभिमानी कुलजा नराधिप ।
परैस्त्वदन्य' क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ।।

द्रौपदी जानती है कि धर्मराज युधिष्ठिर जैसे महामहिम पडित व्यक्ति को कर्त्तव्य की शिक्षा देना उसके वश की बात नही—'भवादृशेषु प्रमदाजनोदित

भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।' फिर भी बिना कुछ खरी-खोटी सुनाए उससे रहा नही जाता । वह कहती है कि ससार मे निष्फलक्रोध वाला व्यक्ति कुछ नही कर सकता, उसकी अनुकूलता-प्रतिकूलता का कोई मूल्य ही नही ! क्यो कि दोनो ही स्थितियो मे वह किसी का कुछ हित-अहित नही कर सकता । स्वय धर्मराज ऐसे ही व्यक्ति हैं—

अबन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदा भवन्ति वश्या स्वयमेव देहिन.
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादर ।।

वे मूर्ख व्यक्ति अवश्य ही पराभव प्राप्त करते है जो शठ के साथ शठता का ही व्यवहार नही करते । क्यो कि जैसे तीखे बाण कञ्चुकविहीन योद्धा को छलनी कर देते हैं ठीक यो ही शठ लोग सीधे-साधे व्यक्तियो का साहचर्य करके, उनके रहस्य जान कर के अन्तत· उन्हे धराशायी कर देते है । महाराज युधिष्ठिर भी ऐसे ही ऋजु-व्यक्तित्व के प्रमाण है । द्रौपदी कहती है—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभव भवन्ति मायाविपु ये न मायिन. ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसवृताङ्गान्निशिता इवेषव ।।

द्रौपदी को अपने वैभव के दिन याद आ जाते है ! राजसूय याग की वह शोभनवेला, जब वीर अर्जुन ने समस्त उत्तरकुरुप्रदेश की दिग्विजय करके अपार स्वर्ण-रजत सम्पत्ति ला दी थी । साम्राज्य के वे रमणीय दिन जब वीर वृकोदर लालचन्दन का अनुलेप करके मस्त पडे रहते थे, नकुल-सहदेव की वह कमल-कोमल जोडी जिसे देखने के लिये इन्द्रप्रस्थ नगर के नागरजन उत्कण्ठित रहते थे !! स्वय महाराज युधिष्ठिर, जो ब्रह्मवेला मे ही चारणो-वैतालिको द्वारा गाई गई स्तुतियो-गीतियो को सुन कर आँखे खोलते थे और अन्तत. इन पाँचो वीर पाण्डव-बन्धुओ की एकमात्र हृदयहारिणी, प्रियतमा राजमहिषी द्रौपदी !! कहाँ गये वे सुनहरे दिन !! द्रौपदी एक-एक करके महाराज युधिष्ठिर को याद दिलाती है—'महारथ: सत्यधनस्य मानस दुनोति नो कच्चिदय वृकोदर ? स वल्कवासासि तवाधुनाहरन् करोति मन्यु न कथ धनञ्जय ? कथ त्वमेतौ धृतिसयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ?

और अन्त मे जब विहितवर्षण सघनघनघटा की भाँति द्रौपदी का अन्तस्ताप व्यक्त कर देने से शान्त हो जाता है तब वह अत्यन्त श्रद्धा एव आस्था के साथ महाराज युधिष्ठिर के अभ्युदय की कामना भी करती है—'रिपुतिमिरमुदस्योदीयमान दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वा समभ्येतु भूयः ।।'

महाकविश्रीभारविविरचित

किरातार्जुनीयम्

(आचार्यमल्लिनाथकृतघण्टापथव्याख्यया अन्यान्यछात्रोपयोगिव्याख्यानैश्च समलङ्कृतम्)

(प्रथम सर्ग)

घण्टापथ—अर्धाङ्गीकृतदाम्पत्यमपि गाढानुरागि यत् ।
पितृभ्या जगतस्तस्मै कस्मैचित् महसे नम ॥
आलम्बे जगदालम्बं हेरम्बचरणाम्बुजम् ।
शुष्यन्ति यद्रज'स्पर्शात् सद्य: प्रत्यूहवार्धय' ॥
तद्दिव्यमव्यय धाम सारस्वतमुपास्महे ।
यत्प्रकाशात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसश्छटा' ॥
वाणी काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी–
मन्तस्तन्त्रमरस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाचकलद्रहस्यमखिल यश्चाक्षपादस्फुरा
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषा सौजन्यजन्य यश ॥
मल्लिनाथकवि सोऽय महोपाध्यायशब्दभाक् ॥
तत्किरातार्जुनीयाख्य काव्य व्याख्यातुमिच्छति ॥
नारिकेलफलसम्मित वचो भारवे. सपदि तद्विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भर सारमस्य रसिका यथेप्सितम ॥

नानानिबन्धविषमैकपदैर्नितान्त साशङ्कचङ्क्रमणखिन्नधियामशङ्कम् ।
कर्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे घण्टापथ कमपि नूतनमातनिष्ये ॥
इहान्वयमुखेनैव सर्व व्याख्यायते मया । नामूल लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

अथ तत्रभवान भारविनामा कवि· "काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्य· परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥" इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेय साधनताम्, 'काव्यालापाश्च वर्जयेत्' इति निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयता च पश्यन् किरातार्जुनीयाख्य महाकाव्य चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वात् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्' इत्याद्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च वनेचरस्य युधिष्ठिरप्राप्तिरूप वस्तु निर्दिशन् कथामुपक्षिपति —

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनी,
प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ
युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥१॥

श्रिय इति । आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिशुद्धिर्नात्रातीवोपयुज्यते। तदुक्तम् —'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा' इति । कुरूणा निवासाः कुरवो जनपदाः । 'तस्य निवासः' इत्यण्प्रत्ययः । जनपदे लुप् । तेषामधिपस्य सम्बन्धिनीम् । शेषे षष्ठी । दुर्योधनस्य श्रियो राजलक्ष्म्याः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी । पाल्यतेऽनयेति पालनी ताम् प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः । प्रजारागमूलत्वात्सम्पद इति भावः । 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट् । 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप् । प्रजासु जनेषु विषये । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने, इत्यमर । वृत्तिं व्यवहारं ज्ञातुं यं वनेचरमयुङ्क्त नियुक्तवान् । वर्णः प्रशस्तिरस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी तदुक्तम्—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च । एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्' इति । एतदष्टविधमैथुनाभावः प्रशस्तिः ('वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः) तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी । ब्रह्मचारिवेषवानित्यर्थः । स नियुक्तः वने चरतीति वनेचरः किरातः 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमर । 'चरेष्ट' इति ट प्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । विदितं वेदनमस्यास्तीति विदितः । परवृत्तान्तज्ञानवानित्यर्थः 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । उभयत्रापि 'पीता गावः', 'भुक्ता ब्राह्मणाः' 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यादिवत्साधुत्वम् । न तु कर्तरि क्तः, सकर्मकेभ्यस्तस्य विधानाभावात् । अत एव भाष्यकारः—'अकारो मत्वर्थीयः । विभक्तमेषामस्तीति विभक्ता । पीतमेषामस्तीति पीता' इति सर्वत्र । अथवोत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । 'विभक्तधना विभक्ताः' 'पीतोदकाः पीता' ,भुक्तान्ना 'भुक्ता' इति । अत्र लोपशब्दार्थमाह कैयट — "गम्यार्थस्याप्रयोग एव लोपोऽभिमतः । 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यत्र च धनस्य यद्विभक्तत्व तद् भ्रातृषूपचर्यते । 'पीतोदका गावः' इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्व गोष्वारोप्यते । 'भुक्ता ब्राह्मणा' इत्यत्र अन्नस्य भुक्तत्व ब्राह्मणेषु उपचर्यते" इति । तद्वदत्रापि वृत्तिगत विदितत्व वेदितरि वनेचर उपचर्यते । एतेन 'स्नाय पीतप्रतिबद्धवत्साम्, 'पातु न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या' एवमादयो व्याख्याताः । अथवा

विदितवान् । सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः । यथा 'आशितः कर्ता' इत्यादौ । तथाऽऽहुः —"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षात कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति । द्वैतवने द्वैताख्ये तपोवने । यद्वा द्वे इते गते यस्मात् तद्द्वीतम् । तच्च तद्वनञ्च तस्मिन् । शोकमोहादिवर्जित इत्यर्थः । युधि रणे स्थिर युधिष्ठिर धर्मराजम् । 'हलन्तादसप्तम्याः सञ्ज्ञायाम्' इत्यलुक् । 'गवियुधिभ्यां स्थिर.' इति षत्वम् । समाययौ प्राप्तवान् । अत्र 'वने वनेचर.' इति द्वयो. स्वरव्यञ्जनसमुदाययोरेकधैवावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासो नामालङ्कार । अस्मिन् सर्गे वशस्थवृत्तम् । तल्लक्षणम्--'जतौ तु वशस्थमुदीरित जरौ' इति ।।१।।

श्लोकान्वय—कुरूणाम् अधिपस्य श्रिय प्रजासु पालनी वृत्ति वेदितुम् यम् अयुङ्क्त, वर्णिलिङ्गी विदित स वनेचर· द्वैतवने युधिष्ठिर समाययौ ।

अनुवाद—कुरुजाङ्गल प्रदेश के अधिपति (दुर्योधन) की साम्राज्यलक्ष्मी के प्रजाविषयक कल्याणात्मक व्यापार को हृदयङ्गम करने के लिए (धर्मराज युधिष्ठिर-ने) जिसे नियुक्त किया था, ब्रह्मचारी वेष वाला (एव समस्त शत्रुविषयक) वृत्तान्त-ज्ञाता वह वनेचर द्वैतवन मे युधिष्ठिर के पास आया !

भावार्थ—दुर्योधनप्रमुखै कौरवैस्साद्धं द्वादशवर्षात्मकम् अरण्यवास पणीकृत्य द्यूतक्रीडा समाचरन् ज्येष्ठः पाण्डुनन्दनो युधिष्ठिर दुर्योधनमातुलेन शकुनिना छलपूर्वक पराभूतः अथ च स्वप्रतिज्ञाम् अनुपालयन् भीमसेनाद्यनुजैः प्रियतया द्रौपद्या च साद्धं कस्मिंश्चिद् द्वैताख्ये वने वसतिञ्चकार इत्यस्ति किञ्चिदाख्याने श्रीमन्महाभारते । अथ तमेव सन्दर्भमुररीकृत्य किरातार्जुनीयाख्य स्वमहाकाव्य प्रारभमाणो महाकविश्रीभारविः कथामुपक्षिपति । तच्च-वनवासानन्तर प्रजावत्सलस्य नरपतेर्युधिष्ठिरस्य मनसि चिन्तेय समजायत्—कच्चित् दुर्योधनस्य शासनप्रबन्धेऽपि कुरुप्रदेशस्य प्रजा कुशलिनी वर्तते ? कच्चित् दुरभिमानिना तेन दुर्योधनेनापि प्रजाकल्याणाय किञ्चित् कृत सौराज्य यद्वा स्वार्थमात्रमेव पूरितम् ? अथ एतत्सर्व वृत्तान्त निःशेषेण परिज्ञातु स महाराजो वनेचरम् एकं प्रेषितवान् । स च वनेचर· सकलवृत्तान्त मनसावधार्य ब्रह्मचारिवेषेण आत्मान निगूह्य द्वैतवने सपरीवार निवसन्त युधिष्ठिर प्रति समाजगाम ।

टिप्पणी—किरातार्जुनीयम्—(किरातार्जुन + छ प्रत्यय) किरातार्जुन शब्द मे द्वन्द्व समास है—किरातश्च अर्जुनश्च इति किरातार्जुनौ, तौ अधिकृत्य कृत काव्यम् इति किरातार्जुनीयम् । महर्षि पाणिनि के अनुसार शिशुक्रन्द, यमसभ, द्वन्द्वसमास तथा इन्द्रजननादि गण के शब्दो मे, ग्रन्थप्रणयन के सन्दर्भ मे छ प्रत्यय लगता है । सूत्र है—'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वइन्द्रजननादिभ्यश्छः । इस छ को बाद मे ईय आदेश

हो जाता है—'आयन्एय्ईन्ईय् इयः फ ढ ख छ घाना प्रत्ययादीनाम्, नियम के अनुसार। इस प्रकार किरातार्जुन + छ (=ईय)=किरातार्जुनीयम् । किरात का तात्पर्य किरातवेषधारी भगवान् शङ्कर से है ।

कुरूणाम् —कुरुप्रदेश के । कुरु शब्द के षष्ठी बहुवचन का रूप। कुरुजाङ्गल प्रदेश महाभारतकाल मे हरियाणा प्रान्त से मेरठ तक फैला हुआ था। ऐसी मान्यता है। निवास-क्षेत्र होने के कारण 'तस्य निवास' पाणिनीय सूत्र से कुरु शब्द से अण् प्रत्यय जुडता है परन्तु 'जनपदे लुप्' (अर्थात् निवास-क्षेत्र यदि जनपद के अर्थ मे हो तो अण् प्रत्यय का लोप हो) नियम से उसका लोप हो जाता है । साथ ही साथ 'लुपि युक्तवत् व्यक्तिवचने' नियम से कुरु शब्द बहुवचन हो जाता है । इस प्रकार 'कुरूणाम्' का तात्पर्य है—कुरूणा निवासा कुरव जनपदास्तेषाम्। इसका सम्बन्ध अगले शब्द 'अधिपस्य' से है (शेषेषष्ठी)—अधिपस्य-नरपतेः अर्थात् अधीश्वर की। अधि पाति इति अधिप (अधि उपसर्ग + पा + कर्त्तरि क प्रत्यय + षष्ठी एकवचन) अर्थात् जो रक्षा करे, वह अधिप है। श्रिय --राज्यसमृद्धे , साम्राज्यलक्ष्मी की। यहाँ इसका तात्पर्य दुर्योधन के राजकीय वैभव से है। जो पुरुष का आश्रय ले, सवरण करे वही श्री है। सुभाषित भी है—साहसे श्री प्रतिवसति अथवा उद्योगिन पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी.। श्रयति आधारत्वेन स्वीकरोति पुरुषम् इति श्री (श्रिधातु + कर्त्तरि क्विप् प्रत्यय + कर्मणि षष्ठी, एकवचन)। प्रजासु – निवासिषु, प्रजाओ से या प्रजाविषयक (प्र + जन् + कर्त्तरि ड प्रत्यय + टाप् स्त्रियाम्—सप्तमी बहुवचन। पालनीम्—सरक्षणाश्रिताम् अर्थात् योगक्षेम प्रदान करने वाली (वृत्ति) जिसके द्वारा किसी का पालन किया जाय, या किसी को सरक्षण दिया जाय उसे पालनी कहते है। पाल्यते अनया इति पालनी, ताम् (पाल् करणे ल्युट् + स्त्रिया ङीप् द्वितीया एकवचन)। वृत्तिम्—व्यापारम् अर्थात् व्यवहार को। जिसके द्वारा किसी भाव को कार्यान्वित किया जाय, चरितार्थ किया जाय, वह वृत्ति है—वर्त्यते अग्रेसरीक्रियते अनया इति (वृत् करणे क्तिन्, द्वितीया एकवचन)। वेदितुम्— अधिगन्तु , परिज्ञातुम् जानने के लिये (विद् धातु + भावे तुमुन् प्रत्यय)। यम्–जिस वनेचर को। अयुङ्क्त –नियुक्त किया (युज् + लङ् लकार प्रथमपुरुष एकवचन)। वर्णिलिङ्गी-वटुवेषधारी। वर्ण का अर्थ है प्रशस्ति अर्थात् कामविकारो का अभाव। यह वर्ण या प्रशस्ति जिसके पास हो, उसे वर्णी कहेगे, जैसे गुण से युक्त गुणी, उसी प्रकार वर्ण से युक्त वर्णी! लिङ्ग का अर्थ है चिह्न। इस प्रकार वर्णी (कामभावनाओ से दूर रहने वाला ब्रह्मचारी) का लिङ्ग (चिह्न) उसके वशिष्ट वस्त्रविन्यास (जटाजूट, बल्कल, मृगचर्म, कमण्डलु आदि) को इङ्गित करता है। अतएव वर्णिलिङ्ग का अर्थ है वटु-

वेष और इस वटुवेष से सम्पन्न व्यक्ति 'वर्णिलिङ्गी' कहा जायेगा। आचार्य मल्लिनाथ के अनुसार-वर्ण. प्रशस्ति: अस्य अस्ति इति वर्णी, ब्रह्मचारी (वर्ण+इनिः--'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' सूत्र से), तस्य लिङ्ग चिह्नम् अस्य अस्ति इति वर्णिलिङ्गी (वर्णिलिङ्ग+इनिः प्रत्यय)। विदित:--शत्रुविषयकवृत्तान्तविद्, जिसे जानने योग्य बातें ज्ञात हो गई हो। मल्लिनाथ के अनुसार, विदित वेदनम् अस्य अस्तीति विदितः, परवृत्तान्तज्ञानवान् इत्यर्थ (विदित:--मत्वर्थीय अच् प्रत्यय--अर्श आदिभ्योऽच् सूत्र से)। विदित शब्द की गणना अर्शादि शब्दो मे की गई है, अत. यहाँ अच् प्रत्यय हुआ है (विद धातु + भावे क्त = विदित + अच् प्रत्यय)। स वनेचर.— वह वनेचर, वह अरण्यचारी जिसे भेजा गया था। जो वन मे सञ्चरण करे वह वनेचर है— वने चरति इति (वने + चर् + ट प्रत्यय—'चरेष्ट.' सूत्र से धातु)। वस्तुत: शब्द होना चाहिये था वनचर, परन्तु वने मे आई 'ङि' (सप्तमी एकवचन) विभक्ति 'तत्पुरुषेकृति बहुलम्' सूत्र के कारण लुप्त नही हुई। इसका आशय है—तत्पुरुष-समास मे कृत्प्रत्ययान्त शब्द यदि परे हो ता विकल्प से विभक्ति का लोप नही होता। चर शब्द कृत्प्रत्यय (ट) से अन्त होने वाला है और सन्दर्भ भी तत्पुरुष समास का है, अत· विकल्प से 'वने' की सप्तमी का लोप नही हुआ। द्वैतवने —एक विशिष्ट वन, जहाँ पाण्डव-बन्धु निवास करते थे। द्वि अर्थात् शोक और मोह, इत अर्थात् गत (इ + क्त प्रत्यय) विलीन हो जहाँ उसे द्वीत कहेगे—द्विइतम् = द्वीतम्। द्वीतम् एव द्वैतम् (प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे अण् प्रत्यय)। द्वैतञ्च तद् वनञ्च इति द्वैतवनम् (कर्मधारय समास), तस्मिन्। द्वैतवन मे। युधिष्ठिरम्—धर्मराज युधिष्ठिर के पास। युधि सग्रामे स्थिर इति युधिष्ठिर : तम् (सप्तमी तत्पुरुष समास) 'हलन्तात् सप्तम्याः अलुक्' सूत्र से सप्तमी विभक्ति का लोप नही हुआ है तथा 'गवियुधिभ्यां स्थिर.' सूत्र से स्थिर के सकार को षत्व हो गया है। समाययौ--आया, प्राप्त हुआ। सम् + आ + या + लिट् लकार (णल् = अ)।

प्रस्तुत पद्य मे पालनीम् एव प्रजासु मे प की, वृत्ति एव वेदितुम् मे व की, वर्णिलिङ्गी एव विदित. मे व की तथा वने-वनेचर· मे पुन· 'वने' की आवृत्ति होने के कारण वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है। इस सर्ग मे ४४ वे पद्य तक वशस्थ छन्द का प्रयोग है जिसका लक्षण है—जतौ तु वशस्थमुदीरित जरौ अर्थात् जिसमे क्रमश जगण-तगण-जगण एव रगण क्रम मे आएँ, वही वशस्थ छन्द है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे देखे—

श्रिय:कु = । ऽ । (= जगण) रूणाम = ऽऽ । (= तगण) धिपस्य = । ऽ । (= जगण) पालनीम् = ऽ । ऽ (= रगण)। चूँकि वंशस्थ समवृत्त छन्द है, अतएव चारों ही चरणो मे वर्णों का यही क्रम होगा।

सम्प्रति तत्कालोचितत्वमादेशयस्तस्य तद्गुणसम्पन्नत्वमादर्शयन्नाह:—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे,
जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं
प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥२॥

कृतप्रणामस्येति । कृतप्रणामस्य तत्कालोचितत्वात्कृतनमस्कारस्य सपत्नेन रिपुणा दुर्योधनेन 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । जिता स्वायत्तीकृता मही महीभुजे युधिष्ठिराय क्रियाग्रहणात् सम्प्रदानत्वम् । निवेदयिष्यतो ज्ञापयिष्यतः । 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । तस्य वनेचरस्य मनो न विव्यथे । कथमीदृगप्रियं राज्ञे विज्ञापयामीति मनसि न चचालेत्यर्थः । 'व्यथ भयचलनयोः' इति धातोर्लिट् । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—न हीति । हि यस्मात् हितमिच्छन्तीति हितैषिणः स्वामिहितार्थिनः पुरुषा मृषा मिथ्याभूतं प्रियं प्रवक्तुं नेच्छन्ति अन्यथा कार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः । "अमौढ्यमान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः" इति नीतिवाक्यामृतम् ॥२॥

श्लोकान्वय—कृतप्रणामस्य, सपत्नेन जिता मही महीभुजे निवेदयिष्यतः तस्य मनः न विव्यथे । हि हितैषिणः मृषा प्रियं प्रवक्तुं न इच्छन्ति ।

अनुवाद—प्रणामक्रिया से निवृत्त (तथा) शत्रु (दुर्योधन) द्वारा जीत ली गई पृथ्वी (के वृत्तान्त) को महाराज के प्रति निवेदित करते हुए उस वनेचर का मन व्यथित नहीं हुआ क्यों कि कल्याण चाहने वाले (स्वपक्षीय) लोग मिथ्याभूत मधुर-वचन बोलने की इच्छा नहीं करते हैं ।

भावार्थ—दुर्योधनेन यत्किञ्चिदपि भव्यं सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय विहितं यादृशश्च शोभनोऽशोभनो वा व्यवहारस्तेन स्वायत्तीकृतः तत्सर्वमेव मनसा सम्प्रधार्य असौ वनेचरः समाजगाम । प्रथममेव स महाराजाय स्वप्रणामं पश्चाच्च वैरिणा दुर्योधनेन जितां साम्राज्यभूमिं तद्वृत्तान्तं वा निवेदितवान् । एवं ब्रुवतस्तस्य मनः व्यथाक्रान्तं न बभूव । यतः हितेच्छवः जनाः सत्यमेव वदन्ति, तच्च सत्यं कियदपि कठोरं प्रतिकूलं वा भवेत् । न पुनस्ते असत्यभूतं प्रियं वक्तुं समीहन्ते ।

टिप्पणी—**कृतप्रणामस्य**—कर लिया है प्रणाम जिसने-कृतः प्रणामः येन सः तस्य बहुव्रीहि समासः (कृ+भावेक्त=कृतः, प्र+नम्—भावे घञ् प्रत्यय=प्रणामः) । **सपत्नेन**--वैरिणाअर्थात् शत्रुद्वारा । वस्तुतः सपत्नशब्द अव्युत्पन्न प्रातिप-

दिक है, काशिकावृत्ति मे कहा गया है—'सपत्नशब्द. शत्रुपर्याय: शब्दान्तरम् अव्युत्पन्नमेव ।' परन्तु कुछलोग इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार स्वीकार करते है—सपत्नीव सपत्न., सपत्नी—अ (निपातनात्) तेन अनुक्तेकर्त्तरि तृतीया। जितां महीम्—जीती गई पृथ्वी को । महीभुजे—महाराज युधिष्ठिर को (के लिए) । मही पृथ्वी भुनक्ति इति महीभुक्, तस्मै महीभुजे (चतुर्थी ए० व०) मही+भुज्धातु+क्विप् प्रत्यय कर्तरि । वस्तुत: प्रयोग होना चाहिए था 'महीभुज निवेदयिष्यतः' परन्तु ऐसा हुआ नही क्यो कि व्याकरण का एक नियम है कि जब तुमुन् प्रत्यय युक्त धातु का प्रयोग परोक्ष हो तो उसके कर्म मे चतुर्थी विभक्ति होती है। उपर्युक्त प्रयोग मे 'महीभुज बोधयितु निवेदयिष्यत ' कहने से ही पूरा अर्थ निकलता है किन्तु 'बोधयितु ' का प्रयोग प्रत्यक्षत. हुआ नही, फलत: इस क्रिया के कर्म अर्थात् 'महीभुज ' मे चतुर्थी हो गई । सूत्र है—'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन.' । निवेदयिष्यतः—निवेदित करते हुए का (नि + विद् + णिच् + लृट् + शतृ प्रत्यय, षष्ठी एकवचन) । तस्य मन न विव्यथे—उसका मन नही व्यथित हुआ । विव्यथे—व्यथ् धातु—लिट् लकार प्रथमपुरुष एकवचन । हि-यतः क्यो कि । हितैषिणः-हित चाहने वाले लोग । हित कल्याणम् इच्छन्ति इति हितैषिण: (हित+इष्+णिनि ताच्छील्ये, प्रथमा–विभक्ति बहुवचन का रूप) । मृषा–असत्य । यह अव्ययपद है । मल्लिनाथ इसे 'प्रिय' का विशेषण स्वीकार करते है । अमरकोश के अनुसार-'मृषा मिथ्या तु वितथे ।' प्रियम्—प्रिय लगने वाली बात को । प्रवक्तुम्—प्रकृष्ट रूप मे कहने के लिए (प्र+ वच् + तुमुन्) । न इच्छन्ति—नही चाहते है ।

प्रस्तुत श्लोक मे, प्रथम तीन पक्तियो मे एक विशेष कथन का उपन्यास किया गया है और चौथी पक्ति मे विद्यमान एक सामान्य बात से उसका समर्थन किया गया है, फलतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । लक्षण इस प्रकार है—

सामान्य वा विशेषण विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यञ्च कारणेनेद कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तिरन्यासोऽष्टधा मतः ।।

तथापि प्रियार्हे राज्ञि, कटुनिष्ठुरोक्तिर्न युक्तेत्याशङ्क्य स्वाम्यनुज्ञया न दुष्यतीत्याशयेनाह—

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो
रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः ।

स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं
विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥३॥

द्विषामिति । रहस्येकान्ते स वनेचरो द्विषा शत्रूणाम् । कर्मणि षष्ठी । विघाताय विहन्तुमित्यर्थ । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति तुमर्थे घञ्प्रत्ययः । अत्र तादर्थ्यमपि न दोषः । तथापि प्रयोगवैचित्र्यविशेषस्याप्यलङ्कारत्वादेव व्याचक्षते । विधातु व्यापार कर्तुमिच्छत । 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' द्विषो विहन्तुमुद्युक्तज्ञानस्येत्यर्थ । अत एव भूभृतो युधिष्ठिरस्यानुज्ञामधिगम्य सुष्ठु भावः सौष्ठव शब्दसामर्थ्यम् । सुष्ठुशब्दादव्ययादुद्गात्रादित्वादञ्प्रत्यय । उदारस्य भाव औदार्यमर्थसम्पत्तिः तयोर्द्वन्द्व सौष्ठवौदार्ये । अत्रौदार्यशब्दस्याजाद्यदन्तत्वेऽपि 'लक्षणहेत्वो क्रियाया.' इत्यत्राल्पस्वरस्यापि हेतुशब्दस्य पूर्वानिपातमकुर्वता सूत्रकृतैव पूर्वनिपातस्यानित्यत्वज्ञापनान्न पूर्वनिपातः । उक्त च काशिकायाम्—"अयमेव लक्षणहेत्वोरिति निर्देश. । पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्" इति । त एव विशेषः तयोर्वा विशेषः तेन शालते इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी ताम् । ताच्छील्ये णिनिः । विनिश्चितार्थां विशेषत प्रमाणतः निर्णीतार्थामिति वक्ष्यमाणरूपा वाचमाददे स्वीकृतवान् । उवाचेत्यर्थ ॥३॥

श्लोकान्वय—द्विषा विघाताय विधातुम् इच्छतः भूभृतः अनुज्ञाम् अधिगम्य स रहसि सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी विनिश्चितार्थाम् वाचम् इति आददे ।

अनुवाद—(दुर्योधनप्रभृति) शत्रुजनो का विनाश करने के लिये प्रयत्नाभिलाषी महाराज (युधिष्ठिर) की अनुमति प्राप्त करके उस वनेचर ने एकान्त मे, सौष्ठव (शब्दसामर्थ्य) एवं औदार्य (अर्थगौरव) के वैशिष्ट्य से समलङ्कृत तथा विनिश्चित (प्रामाणिक) अर्थ वाले वचन इस प्रकार कहे ।

भावार्थ—प्रणामानन्तर स वनेचरः शत्रुजनविनाशाय समुद्यतस्य भूपतेर्युधिष्ठिरस्य अनुमतिं प्राप्य काञ्चिद् वाचम् एकान्ते उपस्थापयामास । कीदृशी वाचम् ? सौष्ठवम् शब्दवैचित्र्य सचमत्कारकथन वा । औदार्यम् अर्थगाम्भीर्यम् । तयोश्च यद्वैशिष्ट्यम् अतिशयत्त्व तेन समलङ्कृता वाचम् । पुनश्च कीदृशीम् ? विशेषेण प्रमाणतो निश्चितः निर्णीतः अर्थ तात्पर्य यस्याः सा ता वाचम् ।

टिप्पणी—द्विषाम्—शत्रूणाम्, शत्रुओ का । द्विषन्ति द्वेष कुर्वन्ति इति द्विष तेषा द्विषाम् (द्विष् + क्विप् + कर्तरि, षष्ठी बहुवचन) विघात शब्द मे आने वाला घञ् प्रत्यय चूंकि कृत् प्रत्ययो मे से एक है तथा द्विष शब्द मूलतः उसका कर्म है (अर्थात् होना चाहिये—द्विषः विघातुम्) । अतएव 'कर्तृकर्मणो कृति' (अर्थात् कृदन्त क्रिया का कर्त्ता या कर्म कृदन्त क्रिया के साथ षष्ठी विभक्ति मे रखा जाता

है) नियम के अनुसार 'द्विषाम्' मे षष्ठी बहुवचन का प्रयोग किया गया है। विघाताय—विनाशाय अर्थात् विनाश के लिए (वि+हन्+घञ् भावे) वस्तुतः 'विघाताय' का अभिप्रेतार्थ 'विहन्तुम्' रूप (वि+हन्+तुमुन्) मे निहित है परन्तु भाववचनाच्च' (अर्थात् तुमुन् प्रत्यय के अर्थ मे, भाववाच्य मे धातु के साथ घञ् प्रत्यय सयुक्त हो) सूत्रानुसार तुमुन् के स्थान पर घञ् प्रत्यय हुआ और बाद मे 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' (अर्थात् किसी धातु मे तुमुन् प्रत्यय जोडने से जो अर्थ निकलता है जैसे गन्तुम्—जाने के लिए, उसी अर्थ को प्रकट करने के लिए, उसी धातु से निष्पन्न भाववाचक सज्ञा का प्रयोग करने पर उसमे चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—यष्टुं याति अथवा यागाय याति। यहाँ याग शब्द भाववाचक सज्ञा है, यष्टुम् के ही अभिप्रेतार्थ को व्यक्त करने वाला है तथा उसी धातु से बना शब्द है। यही सादृश्य विहन्तुम् तथा विघाताय मे भी जानना चाहिए) नियम से चतुर्थी हो गई है। विधातुम्—व्यापार कर्तुम् (वि+धा+तुमुन्) प्रयत्न करने के लिए। इच्छत—अभिलषतः, इच्छा करते हुए (का) इष्+शतृप्रत्यय षष्ठी एकवचन। भूभृत—भूपाल युधिष्ठिर की। भुव पृथ्वी बिभर्त्ति पालयति इति भूभृत्, तस्य भूभृतः (भू+भृ+क्विप् कर्तरि, षष्ठी एकवचन) अनुज्ञामधिगम्य—अनुमति को प्राप्त करके। अनु+ज्ञा+अङ् प्रत्यय भावे द्वितीया एकवचन, अधि+गम्+ल्यप् प्रत्यय। स-वह वनेचर। रहसि--एकान्त मे (रम्+ असुन्=रहस्, सप्तमी एकवचन)। अमरकोश के प्रामाण्यानुसार—'विविक्तविजनच्छन्ननि.शलाका तथा रहः।' सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीम्—सौष्ठव एव औदार्य के विशेष (आतिशय्य) से विभूषित (वाणी) को। सुष्ठु भावः सौष्ठवम् (अव्ययपद सुष्ठु+अञ् भावे) उदारस्य भावः औदार्यम् (उदार+ष्यञ् प्रत्यय) सौष्ठवञ्च औदार्यञ्च इति सौष्ठवौदार्ये (इतरेतर द्वन्द्वसमास) तयोर्विशेषः (वि+शिष्+भावे घञ्) अतिशयः इति सौष्ठवौदार्यविशेषः (षष्ठी तत्पुरुष समासः) तेन शालते शोभते इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी (सौष्ठवौदार्यविशेष+शाल्+णिनि ताच्छील्ये+ङीप् स्त्रियाम्, द्वितीया एकवचन) सौष्ठव का अर्थ है—शब्दवैचित्र्य और औदार्य का अर्थ है—अर्थगाम्भीर्य। विनिश्चितार्थाम्—प्रमाणत निर्णीत अभिप्रायवाली। वि-विशेषेण अर्थात् प्रमाणादिना निश्चित निर्णीतः अर्थ यस्या. सा ताम् वाचम् (बहुव्रीहिसमास) इति आददे—इस प्रकार बोले (आङ्+दा+लिट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन)। आङ् उपसर्ग के साथ दा धातु आत्मनेपदी तभी होती है जब उसका अर्थ 'आस्यविहरण' (मुँह फैलाना) न हो। सूत्र है—'आङो दोऽनास्यविहरणे'। यहाँ 'आददे' का तात्पर्य ग्रहण करन (लक्षणया कहने) से है।

प्रस्तुत पद्य मे विघाताय-विधातुम् तथा विनिश्चितार्थाम्-वाचम् आदि स्थलो पर वकार की आवृत्ति के कारण वृत्त्यनुप्रास अलङ्कार है।

प्रथम तावत्प्रक्षोभकमात्मान प्रत्यक्षोभ याचते —

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषो,
न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा,
हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥४॥

क्रियास्विति। हे नृप! क्रियासु कृत्यवस्तुषु युक्तैर्नियुक्तैरनुजीविभिर्भृत्यै.। चारादिभिरित्यर्थः। चरन्तीति चरा.। पचाद्यच्। त एव चारा·। चरे. पचाद्यजन्तात्प्रज्ञादित्वादण्प्रत्यय। त एव चक्षुर्येषा ते चारचक्षुषः। 'स्वपरमण्डले, कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृतम्। प्रभवो निग्रहानुग्रहसमर्थाःस्वामिनो न वञ्चनीया न प्रता.णीया·। सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थ.। चारापचारे चक्षुरपचारवद्राज्ञा पदे-पदे निपात इति भावः। अतोऽप्रतार्यत्वाद्धेतो। असाध्वप्रिय साधु प्रिय मदुक्तमिति शेष। क्षन्तु सोढुमर्हसि। कुत.। हित पथ्य मनोहारि प्रिय च वचो दुर्लभम्। अतो मद्वचोऽपि हितत्वादप्रियमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः ॥४॥

श्लोकान्वय—नृप! क्रियासु युक्तै· अनुजीविभि· चारचक्षुष प्रभव न वञ्चनीया·। अत· असाधु साधु वा क्षन्तुम् अर्हसि। हित मनोहारि च वच· दुर्लभम्।

अनुवाद—हे राजन्! करणीय कार्यो मे (स्वामी द्वारा) नियुक्त किये गए सेवको को चाहिये कि वे गुप्तचर रूपी नेत्रो वाले अर्थात् सर्वात्मना गुप्तचरो पर कथन को समाश्रित (समर्थ) प्रभुओ को प्रवञ्चना न दे। अतएव मेरे अप्रिय अथवा प्रिय आप सहन करे (क्योकि) हितकारिणी, साथ ही साथ मनोहर (भी) वाणी दुर्लभ होती है।

भावार्थ—अयि महाराज! सन्धिविग्रहसमर्था नरपाला· सर्वतोभावेन गुप्तचराश्रिता भवन्ति। अतएव भृत्यभूताना तेषा गुप्तचराणामपि पवित्रतम तावदिद कर्तव्य यत्ते स्वप्रभून् न प्रवञ्चयेयु.। अयमपि वराको जनस्तादृश एव कोऽपि सेवक· अतएव यत्किञ्चिदपि कर्णसुखद कर्णस्फोटक वा वचनम् अनेन जनेन प्रकाश्यते तत्सर्वं सोढु समर्थोऽसि! अपि च प्रभो! ईदृशी वाणी सुदुर्लभा भवति या खलु कल्याणदात्री स्यात् मनोहारिणी चापि।

टिप्पणी—नृप—हे राजन् ! (नॄन् मनुष्यान् पाति रक्षति इति नृपः (नृ + पा + क कर्त्तरि, उपपद तत्पुरुषसमासः, तत्सम्बुद्धौ हे नृप !) जो मनुष्यो की रक्षा करे वह नृप है । क्रियासु युक्तैः अनुजीविभि.—कर्त्तव्यनिरत सेवको द्वारा। अनुजीवितु शीलम् एषाम् इति अनुजीविन (अनु + जीव + णिनि ताच्छील्ये कर्त्तरि) तै भृत्यै इत्यर्थः । चारचक्षुपः—गुप्तचर रूपी नेत्रो वाले (प्रभव का विशेषण है) चरन्ति स्वामिकार्येण गूढ पर्यटन्ति इति चरा (चर् + अच् कर्त्तरि) चरा एव चाराः चर + प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे अण् प्रत्यय) त एव चक्षूषि येषा ते चारचक्षुष (बहुव्रीहि समास:)। राजा शासनक्षेत्र के कोने-कोने मे स्वय नही पहुँचा पाता परन्तु अपने विश्वस्त गुप्तचरो द्वारा वह प्रत्येक घटना को प्रत्यक्ष कर लेता है, इसीलिए वह 'चारचक्षु' है । प्रभव.—स्वामी लोग । प्रभवन्ति प्रकर्षेण वर्तन्ते इति प्रभव. (प्र + भू + डकर्त्तरि, उक्ते कर्मणि प्रथमा) न वञ्चनीया —न प्रतारणीया, ठगे नही जाने चाहिये (वञ्च् + णिच् + अनीयर्, उक्ते कर्मणि प्रथमा, बहुवचन)। अतः-अस्मात् कारणात् इसलिए, इस कारण से । (एतद् + ङसि + तसिल् पञ्चम्यास्तसिल्) असाधु साधु वा-अप्रिय अथवा प्रिय (कथन) को । क्षन्तुम्--सोढुम्, क्षमा करने के लिए, सहन करने के लिए (क्षम् + तुमुन्) । अर्हसि—समर्थ हो, योग्यता रखते हो (अर्ह + लट् लकार, मध्यम पुरुष एकवचन) हितम् - कल्याणकरम्, लाभप्रद । मनोहारि—चित्ताकर्षकम्, प्रियरूप (मनो हर्तु शीलमस्येति मनोहारि—मनस् + हृ + णिनि ताच्छील्ये) च वचः—भी वचन या कथन । दुर्लभम्—दुःखेन लभ्यते इति दुर्लभम्, उपपद तत्पु० समास (दुर् + लभ् + खल् कर्मणि) हित...वचः, यह पूरी पक्ति एक सुभाषित है जिसका आशय यह है कि हितकर तथ्य कभी भी मनोहर नही होता है और उसी प्रकार मनोहर तथ्य शायद ही कभी कल्याणकार होता हो । इस प्रकार दोनो का सयोग एक कल्पना ही है । इसीलिए कहा गया हैं 'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ।'

इस पद्य मे भी प्रथम तीन पक्तियो मे निबद्ध एक विशेष तथ्य का समर्थन चतुर्थ पक्तिगत सामान्य सुभाषित से किया गया है, अत अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है (परिभाषा के लिए द्वितीय श्लोक की टिप्पणी देखे) ।

तर्हि तूष्णीम्भाव एव वरमित्याशङ्क्य आह—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं

हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः ।

सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥५॥

स इति । य सखा अमात्यादि. अधिप स्वामिन हित न शास्ति नोपदिशति । 'ब्रुविशासि' इत्यादिना शासेर्दुहादिपाठाद् द्विकर्मकत्वम् । स हितानुपदेष्टा कुत्सितः सखा किंसखा । दुर्मन्त्रीत्यर्थः । 'किम. क्षेपे' इति समासान्तप्रतिषेध. । तथा यः प्रभुर्निग्रहानुग्रहसमर्थ. स्वामी हितादाप्तजनाद्धितोपदेष्टु॰ सकाशात् . 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । न सश्रृणुते न श्रृणोति हितमिति शेषः । 'समो गम्यृच्छि' इत्यादिना सम्पूर्वाच्छृणोतेरकर्मकत्वादात्मनेपदम्, अकर्मकत्वं वैवक्षिकम् । स हितमश्रोता प्रभुः किंप्रभुः कुत्सितस्वामी पूर्ववत्समास. । सर्वथा सचिवेन वक्तव्य श्रोतव्य च स्वामिना । एव च राजमन्त्रिणोरैकमत्य स्यादित्यर्थ । ऐकमत्यस्य फलमाह सदेति । हि यस्मान्नृपेषु स्वामिषु अमा सह भवा अमात्यास्तेषु च । 'अव्ययात्त्यप्' । सदानुकूलेषु परस्परानुरक्तेषु सत्सु सर्वसम्पदः सदा रतिमनुराग कुर्वन्ति । न जातु जहतीत्यर्थ । अतो मया वक्तव्य त्वया च श्रोतव्यमिति भाव॰ । अत्रैव राजमन्त्रिणोर्हितानुपदेशतदश्रवणनिन्दासामर्थ्यसिद्धैरैकमत्यलक्षणकारणस्य निर्दिष्टस्य सर्वसम्पत्सिद्धिरूपकार्येण समर्थनात् कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार । तदुक्तम् 'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्या निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यास.' इति ॥५॥

श्लोकान्वय—य॰ अधिप साधु न शास्ति स किं सखा ? य. हितात् न सश्रृणुते स किं प्रभु. ? हि नृपेषु अमात्येषु च अनुकूलेषु सर्वसम्पद॰ सदा रतिं कुर्वते ।

अनुवाद—जो राजा को समुचित उपदेश नही देता है क्या वह मित्र है ? (कभी नही) अथवा वह किंसखा = कुत्सित मित्र है । (इसी प्रकार) जो शुभाकाक्षी व्यक्ति से (सदुपदेश) नही सुनता है क्या वह प्रभु है ? (कभी नही) अथवा वह किंप्रभु = निन्दनीय नरेश है । क्योकि राजाओ तथा सचिवो के परस्पर अनुकूल रहने पर ही समग्र सम्पत्तियाँ सदैव अनुराग करती है (अन्यथा नही) ।

भावार्थ—आत्मान मित्र मन्यमानः यः कोऽपि जनः स्वस्वामिन समुचितरीत्या नोपदिशति, गुह्य निगूह्य गुणान् न प्रकटीकरोति किं स सखा वर्तते ? न कदापि । यत॰ खललक्षणमेतत्। एवमेव आत्मान प्रभु मन्यमानः य. कोऽपि जनः स्वभव्योपदेशकात् हितवचनानि न सम्यक्तया श्रृणोति स किं प्रभुः ? न कदापि । वस्तुतस्तु यत्रैव नृपाः अमात्याश्च परस्परानुरक्ता. अन्योऽन्यानुकूलाः सन्ति तत्रैक सकलसम्पत्तय॰ सातत्येन राराजन्ते ।

टिप्पणी—अधिपम्—राजानम्, राजा को। साधु न शास्ति—हित न उपदिशति। कल्याणकर उपदेश नही देता है। 'साधु' शब्द शास्ति क्रिया-पद का कर्म है। शास्ति = शास् धातु लट् लकार, प्रथम पु० ए० व०। शास् धातु द्विकर्मक है (दुह्याच्-पच्-दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथमुषाम् । कर्मयुक् स्यादकथित तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ।) अतएव उसके दो कर्म है। प्रधान कर्म-'साधु' और गौण कर्म 'अधिपम्'। स किं सखा-वह क्या मित्र है ? आचार्य मल्लिनाथ 'घण्टापथ' मे 'किं' को प्रश्नवाचक न मानकर पूरे 'किंसखा' शब्द को एक समस्तपद मानते है। उ॰के अनुसार इसका अर्थ होगा—कुत्सित. सखा इति किंसखा (कर्मधारय समास) यद्यपि तत्पुरुष समास मे राजन्, अहन् तथा सखि शब्द के अन्त मे आने पर समासान्त टच् प्रत्यय लगता है (राजाह.सखिभ्यष्टच्) और इस प्रकार किम् + सखि + टच् = किंसख· रूप बनना चाहिए था परन्तु ऐसा हुआ नही क्योकि 'किम्' शब्द के क्षेप अथवा कुत्सावाची होने पर समासान्त प्रत्यय नही होते (किम क्षेपे-सूत्र से) किंसखा का अर्थ मल्लिनाथ करते है दुर्मन्त्री। अमरकोश किम् का पृच्छा एव जुगुप्सा-दोनो ही अर्थो मे प्रस्तुत करता है—'कि पृच्छायां जुगुप्सने'। परन्तु भङ्गीभणिति की दृष्टि से 'किम्' को यहाँ पृच्छा के ही अर्थ मे लेना उचित है। य· हितात् न सशृणुते— जो भलाई चाहने वाले व्यक्ति की बात नही सुनता है। हित शब्द हितेच्छु के अर्थ मे प्रयुक्त है—धा धातु + नपुसके भावेक्त – हितम् (कल्याण) हितम् अस्यास्तीति हित. (हित + अच् प्रत्यय-'अर्शआदिभ्योऽच्' सूत्र से) तस्मात् हितात् अर्थात् शुभेच्छु से। 'अख्यातोपयोगे' अर्थात् जिस गुरु से कोई चीज नियम पूर्वक पढी जाय या ज्ञात की जाय वह अपादान होता है जैसे-'उपाध्यायात् अधीते' मे उपाध्याय शब्द। हितात् मे पचमी विभक्ति इसी नियम से हुई है। स किंप्रभु·—वह क्या प्रभु है ? अर्थात् वह व्यक्ति क्या सही अर्थ मे प्रभु कहा जाने योग्य है, कत्तई नही। मल्लिनाथ 'कुत्सित-प्रभु' अर्थ करते है (कर्मधारय०) हि--यतः क्योकि। नृपेषु—राजाओ मे। अमात्येषु च—और सचिवो मे। अमा सह भवाः अमात्या· सचिवास्तेषु। 'अमा' एक अव्यय पद है जो 'सह' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है (अमा + त्यप् + सुप) अनुकूलेषु— परस्परानुरक्तेषु (सत्सु) अनुकूल रहने पर (कूलम् अनुगता इत्यनुकूला· तेषु-प्रादित-त्पुरुषसमास)। सर्वसम्पदः-सकल-सम्पत्तय, सारी सम्पदाएँ (सम्पद्यन्ते इति सम्पदः —सम् + पद + क्विप् प्रथमा बहुवचन, सर्वा सम्पदः इति सर्वसम्पद· — कर्मधारय-समासः) रतिम्— अनुराग (को) रम् धातु + भावे क्तिन् द्वितीया ए० वचन। कुर्वते-करती हैं। समान्यत· कृ धातु परस्मैपदी होती है परन्तु नियम हैं—'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' अर्थात् स्वरितेत् तथा ञित् धातुएँ आत्मनेपदी हो जाती है

बशर्ते क्रियाफल की प्राप्ति कर्त्ता को हो रही हो। यहाँ चूँकि रतिफल की प्राप्ति कर्त्ता का हो रही है, फलतः डुकृञ् धातु (ञ् इत् होने के कारण) आत्मनेपद मे प्रयुक्त हुई।

इस श्लोक मे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार का एक विशिष्ट रूप द्रष्टव्य है— कार्य से कारण का समर्थन (इद कार्येण च समर्थ्यते) 'सकलसम्पत्तिलाभ' कार्य है और 'भूपाल एव आमात्य की परस्पर अनुकूलता' कारण है। कारण का समर्थन काय से किया गया है ।

सम्प्रति स्वाहङ्कार परिहरति :—

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः
क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः ?
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया
निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥६॥

निसर्गेति। निसर्गदुर्बोधं स्वभावदुर्ग्रहम्। 'ईषद्दु'। इत्यादिना खल् प्रत्ययः। भूपताना चरित क्व। अबोधविक्लवा अज्ञानोपहता जन्तव. मादृशा. पामरजना इत्यर्थ क्व नोभय सङ्घटत इत्यर्थ। तथापि निगूढतत्त्व सवृतयाथार्थ्यं विद्विषा नयवर्त्म षाड्गुण्यप्रयोगः। 'सन्धिविग्रहयानानि सस्थाप्यासनमेव च। द्वैधीभावश्च विज्ञेया षड्गुणा नीतिवेदिनाम् ॥' इत्यादिरूपो यन्मयावेदि। ज्ञातमिति यावत्। विदे· कर्मणि लुङ्। अयम्। इद वेदनमित्यर्थः। विधेयप्राधान्यात् पुल्लिङ्गनिर्देशः। तवानुभाव सामर्थ्यम्। अनुगतो भाव. अनुभाव. इति घञन्तेन प्रादिसमास. न तूपसृष्टाद् घञ्प्रत्यय.। श्रिणीभुवोऽनुपसर्गाद् भवतेर्धातोर्घञ् विधानात्। अत एव काशिकायाम्- 'कथ प्रभावा राज्ञा प्रकृष्टो भाव इति प्रादिसमास' इति। दोषपरिहारो सम्यग्ज्ञात्वैव विज्ञापयामि। न तु वृथा कर्णकठोर प्रलपामीत्याशय. ॥६॥

श्लोकान्वय—निसर्गदुर्बोध भूपतीना चरित क्व ? अबोधविक्लवाः जन्तव· क्व ? विद्विषा निगूढतत्त्वं नयवर्त्म यन्मया अवेदि, अय तव अनुभावः।

अनुवाद—(हे स्वामिन्) स्वभावत· अत्यन्त कष्टपूर्वक समझ मे आ सकने वाला कहाँ (तो) राजाओ का चरित और कहाँ अज्ञान के कारण विकलीभूत (मुझ जैसे) पामर जीव ! (फिर भी) गुप्त तत्त्वो वाले, शत्रुओ के नीतिमार्ग को जो मैने जान लिया, वह आप (ही) का प्रभाव है।

भावार्थ—राजन् ! दुर्योधनविषयक यत्किञ्चिदपि वृत्त मया सप्रयासं ज्ञात तत्र न किञ्चिद् मदाय वैशिष्ट्यम् विद्यते। भवन्तः एव तावच्चिन्तयन्तु—क्व भूपतीनां

निसर्गादेव दुर्बोध्यं स्वभावादेव अननुमेय चरित, क्व च असमादृशा वराका. क्षुद्रजन्तव. ये सततमेव अज्ञानेन विकलीभूता॰ । एवम्भूतेऽपि भवच्छत्रूणा दुर्योधनप्रभृतीना रहस्याकुलो नीतिमार्ग॰ मया विज्ञात एव । परन्तु स्वामिन् अस्मिन् कर्मणि न तावन्मदीय किमपि बुद्धिवैलक्षण्य प्रत्युत भवदीयैव कृपा वरीवर्ति ।

टिप्पणी—निसर्गदुर्बोधम्–निसर्ग अर्थात् स्वभाव से ही दुर्बोध । जिसका मूलत. सर्जन हो उसे 'निसर्ग' कहते है—निसृज्यते इति निसर्गः (नि + सृज् + घञ् भावे) और जो दु खपूर्वक अर्थात् अत्यन्त कठिनता से समझ मे आ सके उसे दुर्बोध कहते है—दु खेन काठिन्येन बुध्यते ज्ञायते इति दुर्बोधम् (दुर् + बुध् + खल् कर्मणि), निसर्गात् दुर्बोधम् (पचमी तत्पुरुष) । भूपतीनाम्—पृथ्वीपतीनाम्, राजाओ का । जो रक्षण करे वही पति है, पृथ्वी की जो रक्षा करे वह भूपति है—पाति इति पतिः (पा + डति कर्त्तरि) भुव. पति॰ इति भूपति. (षष्ठी तत्पु०) तेषाम् । चरितम् वृत्तम् चरित्र । क्व—कहाँ ! दो क्व' का एक साथ प्रयोग महान् अन्तर सूचित करता है । 'तप क्व वत्से क्व च तावक वपु:' (कुमारसभव ५।४) की व्याख्या मे मल्लिनाथ कहते है द्वौ क्वशब्दौ महदन्तर सूचयतः । राजा का चरित एव वनेचर की बुद्धि--इन दोनो मे भी इसी प्रकार का महान् अन्तर है । अबोधविक्लवाः—अज्ञानोपहता॰ अर्थात् अज्ञान या मौढ्य से विकलीभूत लोग । बोध या ज्ञान के अभाव को अबोध कहते है (बुध + घञ् = बोधः । न बोध इति अबोधः—नञ् तत्पुरुष) जिसका क्लव अथवा शक्ति क्षीण हो जाय उसे 'विक्लव' कहते है--विगतः क्लव. शक्ति येषा ते विक्लवा (बहुव्रीहिसमासः) अबोधेन विक्लवाः इति अबोधविक्लवा (तृतीयातत्पुरुष) जन्तवः—सामान्यजनाः । जायते इति जन्तुः, जो पैदा भर हो जाय अर्थात् निरीह, असहाय । वस्तुतः यह शब्द वनेचर के अतिसाधारण बौद्धिकस्तर को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया है । क्व—कहाँ (पहले क्व की टिप्पणी देखे) । विद्विषाम्—विद्वेषिजनानाम्, शत्रुओ का । द्विषन्ति द्वेष कुर्वन्ति इति द्विष. शत्रव विशेषेण द्विषः इति विद्विषः (सुप्सुपा) तेषाम् । निगूढतत्त्वम्–छिपे हुए रहस्यो वाले (नयवर्त्म का विशेषण) निगूढं तत्त्व यस्य तत् (बहु० समासः) अर्थात् जिसका तत्त्व या स्वरूप अच्छी तरह छिपा हुआ हो (नि + गुह् + क्त) नयवर्त्म—नीतिपथम्, नीतिमार्ग को । नीयते अनेन इति नयः (नी + अच्—अनियमित रूप से घञ् के स्थान पर अच् प्रत्यय हो गया है) नयस्य वर्त्म इति नयवर्त्म । नयवर्त्म के लिए आचार्य मल्लिनाथ ने 'षाड्गुण्य प्रयोग' शब्द रखा है । षाड्गुण्य का अर्थ नीतिशास्त्र के अनुसार इस प्रकार है—सन्धि, विग्रह, अभियान, आसन (अवसर देखना) द्वैधीभाव तथा संश्रय (आत्मसमर्पण) । यन्मया अवेदि—जो मेरे द्वारा जान लिया गया (विद् ज्ञाने

+ कर्मणि लुङ्) । त्वयं तव अनुभाव.—यह आपका प्रभाव है । भवनम् इति भाव:, अनुगतः भाव. इति अनुभाव. (अनु+भू + घञ्) प्रादितत्पुरुष ।

सम्प्रति यद्वक्तव्य तदाह —

विशङ्कमानो भवतः पराभवं,
नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः ।
दुरोदरच्छद्मजिता समीहते,
नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ॥७॥

विशङ्कमान इति । सुखेन युध्यते सुयोधन: 'भाषाया शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज्वाच्य' । नृपासनस्थ सिंहासनस्थोऽपि । वनमधिवसतीति तस्माद् वनाधिवासिनो वनस्थात् राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थ । भवतस्त्वत्तः पराभव पराजय विशङ्कमानः उत्प्रेक्षमाणः सन् । दुष्टमुदरमस्येति दुरोदर द्यूतम् । पृषोदरादित्वात्साधुः । 'दुरोदरे द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः । तस्य छद्मना मिषेण जिता लब्धा दुर्नयार्जिता जगती महीम् । 'जगती विष्टपे मह्या वास्तुच्छन्दोविशेषयो.' इति वैजयन्ती । नयेन नीत्या जेतु वशीकर्तु समीहते व्याप्रियते । न तूदास्त इत्यर्थः । बलवत्स्वामिकमविशुद्धागमञ्च जन भुञ्जानस्य कुतो मनसो समाधिरिति भाव. । अत्र 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इति विशेषणपदार्थस्य चतुर्थपदार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासाद् द्वितीयकाव्यलिङ्गमलङ्कार । तदुक्तम्–'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते' ॥७॥

श्लोकान्वय—नृपासनस्थ. अपि सुयोधनः वनाधिवासिनः भवत पराभव विशङ्कमान दुरोदरच्छद्मजिता जगती नयेन जेतु समीहते ।

अनुवाद—सिंहासनासीन होते हुए भी (वह) सुयोधन, वनवासाश्रयी (अतएव विपन्न) आपसे (अपनी) पराजय की आशङ्का करता हुआ द्यूतक्रीडा केबहाने जीती गई पृथ्वी को (अब) नीति से जीतना चाह रहा है ।

भावार्थ—महाराज ! सोऽसौ सुयोधनः साम्प्रत राज्यासनम् अलङ्करोति विजानाति च वनावासाश्रयिणो भवतो विपन्ना दशाम् । हन्त ! एवम्भूतेऽपि दशाविपर्यये सबलोऽपि स. निरन्तरमेव पाण्डुनन्दनाद् भवत स्वपराजय विशङ्कते एव । अनयैव विशङ्कया दन्द्रम्यमाणो वराक स: द्यूतक्रीडाच्छलेन सकपटमुररीकृता पृथ्वीमधुना स्वनीत्या प्रजोपकारकरणादिभिश्च वशीकर्तु प्रयतते ।

टिप्पणी—नृपासनस्थ अपि सुयोधन–सिंहासन पर सुशोभित होता हुआ भी दुर्योधन । जो मनुष्यो की रक्षा करे वह नृप है-नृन् पातीति नृपः (नृ + पा +

क कर्त्तरि) जिस पर बैठा जाय वह आसन है--आस्यते अस्मिन् इति आसनम् (आस् +ल्युट् अधिकरणे) नृप के आसन को 'नृपासन' कहते हैं—नृपस्य आसनम् = नृपासनम् (षष्ठीतत्पुरुष) । जो नृपासन पर बैठे वहा नृपासनस्थ है—नृपासने तिष्ठति इति नृपासनस्थ (नृपासन+स्था+क कर्त्तरि) । अपि शब्द का प्रयोग निन्दा के अर्थ मे है । भारवि ने दुर्योधन के लिए 'सुयोधन' नाम का प्रयोग किया है । प्रभूत बलशाली एव अप्रतिम होने के कारण ही ज्येष्ठ धृतराष्ट्रपुत्र का नाम दुर्योधन रखा गया था परन्तु चूँकि महाबली भीम मल्लयुद्ध मे दुर्योधन को तृणवत् समझते अतः वे उसे 'सुयोधन' ही कहते थे । सुयोधन का अर्थ है—जिससे सुखपूर्वक युद्ध किया जा सके । सु सुखेन युद्ध्यते इति सुयोधन· (सु + युध् + युच् प्रत्यय उपपद-तत्पु०) । **वनाधिवासिनः भवतः**—वन मे निवास करने वाले आपसे । वनम् कान्तारम् अधिवसतीति वनाधिवासी, तस्मात् (वन + अधि + वस् + णिनिकर्त्तरि) उपपद तत्पु० । **पराभवम्**—पराजय को (परा + भू + अप् भावे द्वितीया एकवचन) । **विशङ्कमानः**—उत्प्रेक्षमाण आशङ्का करता हुआ (वि + शङ्क + शानच् कर्त्तरि प्रथमा एकवचन) **दुरोदरच्छद्मजितां जगतीम्**—द्यूतव्याजेन वशीकृता पृथ्वीम् । जुआ खेलने के बहाने अथवा छल से जीते गए साम्राज्य को । दुरोदर कहते हैं जुए को, जिनका उदर दुष्ट हो । जुआ बडे-बडे करोडपतियो को क्षण भर मे हजम कर लेता है—दुष्टम् उदर यस्य तत् दुरोदरम् (दु + उदरम् = होना चाहिए 'दुरुदरम्' किन्तु रूप बनता है 'दुरोदरम्') इस असगत प्रयोग को पारम्परिक मान्यता दे दी गई है—'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' कह कर । दुरोदरे यत् छद्म यत् कैतवं (सुप्सुपा) तेन जिता जगतीम् (तृतीया तत्पु०) । दुरोदरे द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमर । 'त्रिष्वथो जगती लोको विष्टर भुवन जगत्' इत्यमरः । **नयेन**—नीत्या, नीति से, सद्व्यवहार से ('ओष प्लोषे नयो न्याये' इत्यमर) । **जेतुम्**—वशीकर्तुम्, जीतने के लिए (जि + तुमुन्) । **समीहते**—वाञ्छति, प्रयतते । इच्छा करता है । (सम् + ह् चेष्टायाम्, प्रथमपुरुष एक०, लट्लकार) ।

इस पद्य मे काव्यलिंग अलङ्कार है—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते' अर्थात् जब वाक्य या पद के अर्थ से किसी कारण का उपन्यास किया जाय तो वहाँ काव्यलिङ्ग अलकार होता है । यहाँ 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इस विशेषण पद का अर्थ 'नयेन जेतुम्' के अर्थज्ञान का कारण प्रस्तुत कर रहा है ।

'नयेन जेतु जगती समीहते' इत्युक्तम् । तत्प्रकारमाह —

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया,
तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः ।

समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमा-
द्वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ॥८॥

तथापीति । तथापि साशङ्कोऽपि । जिह्मो वक्र. । वञ्चक इति यावत् स दुर्योधनो भवज्जिगीषया । गुणैर्भवन्तमाक्रमितुमिच्छयेत्यर्थः । 'हेतौ' इति तृतीया । गुणसम्पदा दानदाक्षिण्याङ्गिरिम्णा करणेन । शुभ्र यशः तनोति । स खल्वो गुणलोभनीया त्वसम्पदमात्मसात्कर्तु त्वत्तोऽपि गुणवत्तामात्मनः प्रकटयतीत्यर्थः । नन्वेव गुणिनः सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्त्यस्य दोषः इत्याशङ्क्य सोऽपि सत्ससर्गलाभे नीचसङ्गमाद्वरमुत्कर्षावहत्वादित्याह—समिति । तथा हि भूतिं समुन्नयन्नुत्कर्षमापादयन् । 'लटः शतृशानचौ' इत्यादिना शतृप्रत्यय. । पुनर्लड्ग्रहणसामर्थ्यात् प्रथमासमानाधिकरण्यम् । महात्मभिः समम् । सहेत्यर्थः । 'साक मत्रा सम सह' इत्यमरः । अनार्यसङ्गमाद् दुर्जनससर्गात् ' 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । विरोधोऽपि वर मनाक्प्रियः । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक्प्रिये' इत्यमरः । अत्र मैत्र्यपेक्षया मनाक्प्रियत्व विरोधस्य । 'भूतिं समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्ववाक्यान्वये समाप्तस्य वाक्यार्थस्य पुनरादानात्समाप्तपुनरात्तख्यानदोषापत्ति । तदुक्त काव्यप्रकाशे—समाप्तपुनरादानात्समाप्तपुनरात्तकम्' इति । न च वाक्यान्तरमेतत्, येनोक्तदोषपरिहारः स्यात् । अर्थान्तरन्यासालङ्कारः । स च भूतिं समुन्नयनस्य पदार्थविशेषणद्वारा विरोधवत्त्व प्रति हेतुत्वाभिधानरूपकाव्यलिङ्गानुप्राणितः इति ॥८॥

श्लोकान्वय—तथापि जिह्म स भवज्जिगीषया गुणसम्पदा शुभ्र यशः तनोति । भूतिं समुन्नयन् महात्मभिः सम विरोधः अपि अनार्यसङ्गमात् वरम् ।

अनुवाद—फिर भी (अर्थात् विशङ्कित होते हुए भी) कुटिल प्रवृत्तिवाला वह (दुर्योधन) आपको जीत लेने की लालसा वश (दानदाक्षिण्यादि अपनी) गुणसम्पत्ति से धवल कीर्ति का विस्तार कर रहा है। ऐश्वर्य का अभ्युत्थान करने वाला महापुरुषो के साथ किया गया विरोधभाव भी दुष्टो के ससर्ग की अपेक्षा अच्छा है।

भावार्थ—राजन् ! स दुर्योधनो नाह धर्मराजयुधिष्ठिर इव अस्य राज्यासनस्य अधिकारी न च प्रजा मयि अनुरक्ता । तत्कथमह त प्रजा॰गणभूत नरपतिं न्यक्कर्तु समर्थोऽस्मि ? इत्येव नक्तन्दिवमनुशोचन्निव भवन्तम् आक्रमितुम् इच्छया बहुविधप्रजोपकारकरणैः स्वकीय धवल यश. दिक्षु वितनोति ! भवता सार्धं विहितो विग्रहोऽपि तावत् तस्य भूषणायैव न तु दूषणाय । यतः अनेनैव विरोधेन दुर्योधनः महदैश्वर्यमुपगमितः । अतएव दुष्टजनसंसर्गापेक्षया अय विरोधोऽपि मनाक्प्रिय एव वर्तते ।

टिप्पणी—तथापि—साशङ्कोऽपि, तदवस्थोऽपि—अर्थात् आपसे पराजय की आशङ्का करता हुआ भी (तत् + थाल् प्रत्यय—'प्रकारवचने थाल्' सूत्र से + अपि)। यद्यपि दुर्योधन अपनी स्थिति को डावाँडोल ही समझ रहा है क्योकि एक तो उसने द्यूतच्छल से राज्यासन पा लिया है, धर्मत· वह उसका अधिकारी नही, और दूसरे, उसका शत्रुवर्ग भी कुछ कम शक्तिशाली नही। फिर भी अपनी स्थिति को सुदृढ करने मे वह प्रयत्नशील है। 'तथापि' का यही भाव है। जिह्म: स:—वञ्चक. दुर्योधन अर्थात् कुटिल वह दुर्योधन। जो सरलमार्ग छोड दे, कुटिलमार्ग अपना ले उसे 'जिह्म' कहते है। जहाति परित्यजति सरलमार्गम् इति जिह्म अथवा हीयते सरलमार्गात् इति जिह्म·, (हा = ह = जिह् + मन् प्रत्यय औणादिक = जिह्म.) 'जिह्मस्तु कुटिले मन्दे' इति हैम । 'जिह्मस्तु कुटिलेऽलसे' इत्यमर: । भवज्जिगीषया—आपको जीतने की इच्छा से। जीतने की इच्छा को 'जिगीषा' कहते हैं-जेतुम् इच्छा जिगीषा (जि + सन् + अ + टाप् स्त्रियाम्)। भवत· जिगीषा इति भवज्जिगीषा (षष्ठीतत्पु०), तया ('हेतौ' तृतीया) । गुणसम्पदा—गुणसम्पत्ति से। गुणाना सम्पत् इति गुणसम्पत् (षष्ठीतत्पु०), तया (करणे तृतीया)। शुभ्रम् —निर्मलम् निष्कलङ्कम् (यश का विशेषण)। जो शोभित हो उसे शुभ्र कहते है। शोभते इति शुभ्रम् (शुभ् + रक् कर्त्तरि) 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डुरा.' इत्यमर· । यश.—कीर्तिम्, कीर्ति को। 'यश कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमर । तनोति—विस्तारयति, फैला रहा है (तन् धातु, लट् लकार प्रथमपुरुष, एकवचन)। भूतिं समुन्नयन्—ऐश्वर्यम् आपादयन्, समृद्धि वृद्धि गमयन् अर्थात् ऐश्वर्य या वैभव को बढाता हुआ। भूति का अर्थ है—ऐश्वर्य (भू + क्तिन् भावे + अम्) 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमर । समुन्नयति इति समुन्नयन् (सम् + उत् + नी + शतृ कर्तरि प्रथमा एकवचन) समुन्नयन् का सबन्ध 'विरोध' से है। महात्मभि समम्—श्रेष्ठपुरुषो के साथ। महान् आत्मा येषा ते महात्मान: (बहुब्रीहि-समास.), तै. सह । कर्मधारय एव बहुब्रीहि समास मे समानाधिकरण अथवा जातीय शब्द परे रहने पर 'महत्' के स्थान मे 'महा' आदेश हो जाता है। सूत्र है—'आन्महत. समानाधिकरणजातीययो' । 'महान् आत्मा' मे भी आत्मा समानाधिकरण शब्द है, अत· 'महान्' (महत्) के स्थान पर 'महा' हो गया । 'महात्मभिः' मे तृतीया 'सहयुक्तेऽप्रधाने' सूत्र से हुई है (अर्थात् सह, साक, सार्धं एव समम् के योग मे अप्रधान मे तृतीया होती है)। विरोध· अपि—विग्रह अपि, वैमनस्य भी। विरुध्यते इति विरोधः (वि + रुध् + घञ् भावे)। अपि समुच्चय के अर्थ मे है। अनार्यसङ्गमात्—दुष्टजनससर्गात्, दुष्टो के साहचर्य या सङ्गति की अपेक्षा। प्रकृत

या सभ्य आचरणवाला व्यक्ति आर्य कहा जाता है। जो इस प्रकार का न हो वही अनार्य है। आर्य शब्द की व्युत्पत्ति—अर्य्यन्ते गम्यन्ते आचारपूतत्वात् आश्रीयन्ते इति आर्याः (ऋ + ण्यत् कर्मणि)। आर्य का लक्षण—कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृत.॥ न आर्याः अनार्याः (नञ् तत्पु०), अनार्याणां सङ्गम (सम् + गम् + अप् भावे) इति अनार्यसंगम (षष्ठीतत्पु०); तस्मात्। 'नीचोऽनार्योऽकुलीनोऽपि शठो दुर्वृत्त' इत्यमर.। वरम्—मनाक्प्रियम्, कुछ प्रिय (ही) है। 'देवाद्वृते वर. श्रेष्ठे त्रिषु क्लीब मनाक्प्रिये' इत्यमरः।

प्रस्तुत पद्य मे 'सामान्य से विशेष का समर्थन' रूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार सुस्पष्ट है। साथ ही साथ 'वर विरोधोऽपि समं महात्मभि.' रूप कार्य का हेतु 'भूतिं समुन्नयन्' पद से व्यक्त होने के कारण काव्यलिङ्ग अलङ्कार भी है। इनके लक्षण पूर्व व्याख्यात पद्यो मे देखे।

ननु 'कातर्यं केवला नीतिः' इत्याशङ्क्य नीतियुक्तपौरुषमस्येत्याह—

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवी-
मगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तन्दिवमस्ततन्द्रिणा
वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥९॥

कृतेति। षण्णां वर्ग षड्वर्गः। अरीणामन्तःशत्रूणां कामक्रोधादीनां षड्वर्गोऽरिषड्वर्गः शिवभागवतवत्समासः। तस्य जयः कृतो येन तेन तथोक्तेन विनीतेनेत्यर्थ.। विनीताधिकारं प्रजापालनमिति भावः! अगम्यरूपां पुरुषमात्रदुष्प्राप्याम्। मनोरिमां मानवीम्। मनूपदिष्टसदाचारक्षुण्णामित्यर्थः। पदवीं प्रजापालनपद्धतिं प्रपित्सुना प्रपत्तुमिच्छुना। प्रपद्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः 'सनिमीमा'—इत्यादिनेसादेश। अत्र 'लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोप.। अस्ता तन्द्रिरालस्यं यस्य तेनास्ततन्द्रिणा। अनलसेनेत्यर्थ। तदि' सौत्रो धातु। तस्माद् 'वड्क्रयादयश्च' इत्यौणादिकः त्रिन् प्रत्ययः 'कृदिकारादक्तिनो वा ङीष्' इति। 'वन्दीघटीतरीतन्द्री' इति ङीषन्तोऽपि इति क्षीरस्वामी। तथा रामायणे प्रयोगः 'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्' इति। तेन—दुर्योधनेन। पुरुषस्य कर्म पौरुषं पुरुषकार.। उद्योग इति यावत्। युवादित्वादण् प्रत्यय। 'पौरुषं पुरुषस्योक्ते भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्व.। नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम्। अहोरात्रयोरित्यर्थ.। 'अचतुर—' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्योरव्ययो-

द्वन्द्वनिपातेऽच्समासान्तः । विभज्यास्या वेलायामिदं कर्मेति विभागं कृत्वा नयेन नीत्या विस्तार्यते ॥६॥

श्लोकान्वय—कृतारिषड्वर्गजयेन अगम्यरूपा मानवी पदवी प्रपित्सुना अस्ततन्द्रिणा तेन नक्तन्दिवं विभज्य नयेन पौरुषं वितन्यते ।

अनुवाद—(कामक्रोधादि) अन्त शत्रुओ के षड्वर्ग पर विजय प्राप्त करने वाले, अगम्य रूपवाला, मनूपदिष्ट प्रजापालनपद्धति को चरितार्थ करने की आकाक्षा वाले (अतएव) आलस्यविहीन अर्थात् उत्साहसम्पन्न उस दुर्योधन द्वारा (कार्योचित) समय का विभाजन करके, नीतिपूर्वक पुरुषार्थ का विस्तार किया जा रहा है ।

भावार्थ—राजन् ! प्रजानुकूल्यं लोकप्रियत्वं च समवाप्तुं किं किं न क्रियते तेन दुर्योधनेन ! प्रथममेव तेन कामक्रोधमोहलोभमदमात्सर्यप्रभृतिषट्सख्याकाः अन्तश्शत्रवः वशीकृता यतो हि विनीताधिकार प्रजापालनमिति । अथ साम्प्रतं पुरुषमात्रदुरापा भगवता मनुना समुपदिष्टा सदाचारयुक्ता प्रजापालनपद्धति चरितार्थयितुम् आलस्यादिकं विरुद्धभावमपहाय तेन स्वपौरुषं विस्तार्यते । स्वामिन् ! स्वोद्योगप्रकाशनेऽपि दुर्योधनो नीतिमेवावलम्बते । अथ च पूर्वमेव निश्चिनोति यदस्या वेलायामिदं कर्म करणीयम् इति । न तस्य कार्ये समयोपरोधः जायते इत्यर्थः ।

टिप्पणी—कृतारिषड्वर्गजयेन—कर लिया है शत्रुओ के षड्वर्ग पर विजय जिसने । मल्लिनाथ इन शत्रुओ को 'अन्तः शत्रु' कहते है । वस्तुतः ये मानवमात्र में विद्यमान विघटनकारी प्रवृत्तियाँ है जिनकी सख्या छः बताई गई है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एव मात्सर्य (ईर्ष्या) । इन्ही छहो का समूह 'षड्वर्ग' कहा जाता है । इस प्रकार—कामक्रोधादिकाना षण्णा वर्गः इति षड्वर्ग., अरीणा षड्वर्गः इति अरिषड्वर्गः, तस्य जयः इति अरिषड्वर्गजयः (सर्वत्र षष्ठीतत्पु०), कृत. अरिषड्वर्गजय येन सः तेन दुर्योधनेन (बहुव्रीहिसमास) । अगम्यरूपाम्—अगम्य अर्थात् जटिल स्वरूपवाली, अगम्य रूपं यस्याः सा ताम् (बहुव्रीहि) अथवा अतिशयेन अगम्या इति अगम्यरूपा, ताम् (अगम्य + रूपप् प्रत्यय + टाप् स्त्रियाम्—'प्रशसाया रूपप्)' । शाकुन्तलम् प्रथमाङ्क मे इसी प्रकार का प्रयोग द्रष्टव्य है—जन्म यस्य पुरोर्वंशे युक्तरूपमिदं त्वयि १।११।। मानवीम्-मनूपदिष्टाम्. सदाचारक्षुरणामित्यर्थः अर्थात् मनुस्मृतिकार भगवान् मनु की । मनुस्मृति के टीकाकार श्री कुल्लूकभट्ट 'मनु' शब्द का व्याख्यान करते है—सकलवेदार्थमननात् मनु : । तस्य इयम् इति मानवी, ताम् (मनु + अण् + ङीप् स्त्रियाम्) । पदवीम्-प्रजापालनपद्धतिम्, मार्ग को । 'अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवीसृतिः' इत्यमर. । प्रपित्सुना—प्रपत्तुमिच्छुना, अपनाने की इच्छा रखने वाले के द्वारा (प्र + पद + सन् + उ कर्त्तरि, तेन) ।

अस्ततन्द्रिणा—निरलसेन, आलस्यहीन। तन्द्रि का तात्पर्य आलस्य से है। अस्त या विनष्ट हो गई है 'तन्द्रि' जिसकी वह अस्ततन्द्रि है—अस्ता विनिहता तन्द्रि. तन्द्रा आलस्य वा यस्य सः तेन (बहुव्रीहिः) तन्द्रा तन्द्रिः अथवा तन्द्री, तीनो ही शब्द एकार्थक तथा स्त्रीलिङ्ग हैं। 'तन्द्रि' शब्द (ह्रस्वइकारान्त) की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—तदि—क्रिन् भावे, औणादिक प्रत्यय। परन्तु क्षीरस्वामी इसे दीर्घ ईकारान्त भी स्वीकार करते है—'वन्दीघटीतरीतन्द्रीति ईषन्तोऽपि'। रामायण का एक प्रयोग आचार्य मल्लिनाथ प्रस्तुत करते है—'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्' इति। **तेन**—उस दुर्योधन के द्वारा। **नक्तन्दिव विभज्य**—रातदिन का विभाजन करके। नक्त एव दिवा—ये दोनो शब्द अव्यय है। नक्तञ्च दिवा च इति नक्तन्दिवम् अहोरात्रमित्यर्थः (नक्त + दिव + समासान्त अच् प्रत्यय, द्वन्द्वसमास)। विभज्य (वि + भज् + ल्यप्) का अर्थ है—कार्यानुसार समय का विभाजन करके। आचार्य मल्लिनाथ की व्याख्या देखे—'अस्या वेलायाम् इद कर्म इति विभाग कृत्वा।' **नयेन**—नीतिपूर्वकम्, नीति से। **पौरुषम्**—पुरुषार्थ को। पुरुष के कर्म को 'पौरुष' कहते है—पुरुषस्य कर्म पौरुष पुरुषकारः उद्योग इति यावत् (पुरुष + अण् प्रत्यय, उक्ते कर्मणि प्रथमा)। **वितन्यते**—विस्तार्यते, प्रसार्यते। फैलाया जा रहा है, प्रकाशित किया जा रहा है (कर्मवाच्य) वि + तन् + लट्—त कर्मणि।

सम्प्रति भृत्यानुरागमाह—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः,
समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः,
कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥ १० ॥

सखीनिवेति। गतस्मयो निरहङ्कारोऽत एव स दुर्योधनः सन्ततमनारत साधु सम्यक् अकपटमित्यर्थः। अनुजीविनः भृत्यान्। प्रीतियुजः स्निग्धान् सखीनिव मित्राणीव। दर्शयते। लोकस्येति शेषः। 'हेतुमति च' इति णिच्। 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम्। शोभन हृदय येषा तान्सुहृदो मित्राणि च। 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः। बन्धुभिर्भ्रात्रादिभिः। समानमानास्तुल्यसत्कारान् दर्शयते। बन्धूना समूहो बन्धुता ताम्। 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' कृतमाधिपत्य स्वाम्य यस्यास्तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते। बन्धूनधिपतीनिव दर्शयतीत्यर्थः। यथा भृत्यादिषु सख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा तान् सम्भावयतीत्यर्थः। अनुजीव्यादीनाम् 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वम्। पूर्वे त्वस्मिन्नेव पदान्वये वाक्यार्थमित्थं वर्णयन्ति—स राजाऽ-

नुजीव्यादीन् सखीनिव दर्शयते । सख्यादय इव ते तु त पश्यन्ति । सख्यादिभावेन पश्यतस्तास्तथा दर्शयते । स्वयमेव छन्दानुवर्तितया स्वदर्शनं तेभ्य प्रयच्छतीत्यर्थः । अर्थात्तस्येप्सितकर्मत्वम् । अणिकर्तुरनुजीव्यादे 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इति पाक्षिक कर्मत्वम् । एव चात्राण्यन्तकर्मणो राज्ञो ण्यन्ते कर्तृत्वेपि 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यादिवदश्रूयमाणकर्मान्तरत्वाभावान्नाय णेरणादिसूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचश्च' इत्यात्मनेपद प्रतिपेदिरे । भाष्ये तु णेरणादिसूत्र-विषयत्वमप्यस्योक्तम् । यथाऽऽह—'पश्यन्ति भृत्या राजानम्', 'दर्शयते भृत्यान् राजा', 'दर्शयते भृत्यै राजा' अत्रात्मनेपद सिद्ध भवति इति । अत्राह कैयटः—ननु कर्मान्तरसद्भावादत्रात्मनेपदेन भाव्यम् । उच्यते—अस्मादेवोदाहरणाद्भाष्यकारस्यायमेवाभिप्राय ऊह्यते । अण्यन्तावस्थाया ये कर्तृकर्मणी तद्व्यतिरिक्तकर्मान्तरसद्भावादात्मनेपद न भवति । यथा—'स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इति । इह त्वण्यन्तावस्थाया कर्तृणा भृत्यानां णौ कर्मत्वमिति भवत्येव आत्मनेपदमिति ॥१०॥

श्लोकान्वय— गतस्मय सः सन्तत साधु अनुजीविनः प्रीतियुज. सखीनिव, सुहृदश्च बन्धुभिः समानमानान् इव, बन्धुता कृताधिपत्यामिव दर्शयते ।

अनुवाद—अभिमान रहित वह (दुर्योधन) सदैव निष्कपट भाव से अनुचरो को स्निग्ध मित्रो की भाँति, मित्रो को सहोदरो के समान आदरपात्र और बन्धुओ को (अपने) अधिपतियो के समान सम्भावित किया करता है ।

भावार्थ—अहो ! सुयोधनस्य व्यवहारनैपुण्यम् । तस्य अनुजीविन. भृत्यादयः तत्कृते स्नेहसवलिता सुहृद. सुहृदश्च ते तादृशमेव सत्कार प्राप्नुवन्ति यादृश तस्य बन्धवः । अर्थात् मित्रसहोदरयो न कोऽपि व्यवहारभेद वर्तते । एवमेव कुरुराज. बन्धुता कृताधिपत्यामिव सम्भावयति अर्थात् एव दर्शयते यथा तस्य बन्धवः एव स्वामिन. वर्तन्ते न खलु दुर्योधनस्तेषामधिपति. । व्यवहारोऽय दुर्योधनस्य सम्यक् रूपेण सततमेव प्रवर्तते, न चाय समयापेक्ष स्थानापेक्षश्च ।

टिप्पणी—गतस्मयः स —निरहङ्कारो दुर्योधन., अभिमानशून्य वह (सुयोधन) गत स्मयः (स्मि+अच् भावे) यस्य स. (बहुव्रीहिसमास.) अमरकोष के अनुसार—'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेक स्मयो मदः ।' सन्ततम्-निरन्तर, सदैव 'सन्तत एव सतत' दोनो शब्द एकार्थक है । इसकी व्युत्पत्ति है—सम्+तन्+क्त कर्मणि (सन्ततम्) परन्तु कभी-कभी 'सम्' उपसर्ग का 'म्' विकल्प से लुप्त हो जाता है (समो वा ततहितयो) तत और हित शब्द आगे रहने पर । उस दशा मे 'सतत' रूप ही बनता है । साधु —सम्यक्, अकपटमित्यर्थः अर्थात् सहजभाव से । अनुजीविनः—भृत्यान्, अनुचरो या सेवको को (द्वितीया बहुवचन) अनुजीवन्ति इति अनुजीविनः तान् (अनु+जीव+णिनि कर्तरि, ताच्छील्ये) । प्रीतियुजः सखीन् इव-

स्निग्धान् मित्राणीव, प्रीतिपगे मित्रो की भाँति । प्रीत्या स्नेहेन युज्यन्ते इति प्रीतियुजस्तान् (प्री+क्तिन् भावे प्रीतिः, प्रीति+युज्+क्विन् कर्त्तरि) यह शब्द सखीन् का विशेषण है । 'वयस्य स्निग्धः सवया अथ मित्र सखा सुहृत्' इत्यमरः । सुहृदश्च-और मित्रो को । शोभन हृदय है जिनका उन्हे सुहृद कहते है—शोभन हृदय येषा ते सुहृद तान् । सुहृत् रूप निपातन से सिद्ध हुआ है । आचार्य मल्लिनाथ लिखते है—'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपात । बन्धुभि —भ्रात्रादिभि स्वजनो से, सह के अर्थ मे तृतीया विभक्ति । जो प्रेम से बाँध ले उन्हे बन्धु कहते है—बध्नन्ति प्रेम्णा इति बन्धव तै. बन्धुभि (बन्ध्+उण्) । समानमानान् इव—तुल्यसत्कारानिव अर्थात् समान आदर वाले के समान । समान है मान या आदर जिनका उन्हे । समान तुल्यः मानः (मान्+भावे घञ्) आदर येषा ते समानमाना तुल्यादरास्तान् इव । बन्धुताम्—स्वजन-समूह को । बन्धुसमूह को बन्धुता कहते है—बन्धूना समूहो बन्धुता ताम् (बन्धु+तल् समूहार्थे+टाप् स्त्रियाम्, ताम्='ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' सूत्र से तल् प्रत्यय) यह शब्द 'दर्शयते' का कर्म है । अमरकोष के अनुसार – सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजना समा-ज्ञातेय बन्धुता तेषा क्रमाद्भावसमूहयोः । कृताधिपत्यामिव—चरितार्थ हो रहा है आधिपत्य जिसका, उसकी भाँति । कृत विहित आधिपत्यम् (अधिपति+यक् भावे) यस्याः सा ताम् । अधिपति (अधि+पा+डति कर्त्तरि) शब्द मे यक् प्रत्यय 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' सूत्र से लगा है इसका अर्थ है—पत्यन्त तथा पुरोहितादि गण के शब्दो से भाव के अर्थ मे यक् प्रत्यय होता है । परन्तु चूँकि 'अधिपति' शब्द का परिगणन स्पष्टत ब्राह्मणादि गण मे किया गया है, अतएव 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' सूत्र से इसमे ष्यञ् प्रत्यय भी लग जायेगा । दोनो ही रूप सभव है । दर्शयते-सम्भावयति । प्रदर्शित करता है—दृश्+णिच्+लट्—त । यहाँ 'णिचश्च' नियम से आत्मनेपद का प्रयोग विहित है । णिजन्त धातु आत्मनेपदी तभी होती है जब क्रियाफल कर्तृगामी हो । यहाँ भी 'दर्शनव्यापार' कर्त्ता अर्थात् दुर्योधननिष्ठ है, फलतः आत्मनेपद प्रयोग हुआ है ।

न चाय त्रिवर्गात्प्रमाद्यतीत्याह --

असक्तमाराधयतो यथायथं,
विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्
न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ॥११॥

असक्तमिति । यथायथ यथास्व विभज्य । असंकीर्णरूप विविच्येत्यर्थः । 'यथास्वे यथायथम्' इति निपातनाद् द्विर्भावो नपुंसकत्व च । ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम् । पक्षे पात पक्षपात आसक्तिविशेष समस्तुल्यो यस्या तया समपक्षपातया (तुल्यादरया) भक्त्याऽनुरागविशेषेण । पूज्येष्वनुरागो भक्तिरित्युपदेश । पूज्यश्चाय त्रिवर्ग इति । असक्तमनासक्तम् । अव्यसनितयेति यावत् । आराधयतः सेवमानस्यास्य दुर्योधनस्य त्रयाणा धर्मार्थकामाना गणस्त्रिगणस्त्रिवर्ग । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्ग समोक्षकै.' इत्यमर । गुणानुरागात्तदीयगुणेष्वनुरागात् । गुणवदाश्रयलोभादित्यर्थ. । सख्य मैत्रीम् । 'सख्युर्य ' इति यप्रत्यय । उपेयिवानुपगतवानिवेत्युत्प्रेक्षा । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपात. । नात्रोपसर्गस्तन्त्रम् इति काशिकाकार आह स्म । परस्पर न बाधते । समवर्तित्वादस्य 'धर्मार्थकामाः परस्परानुपमर्देन वर्धन्त' इत्यर्थ । उक्त च—'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्त स जनो जघन्य.' इति ॥११॥

श्लोकान्वय—यथायथ विभज्य समपक्षपातया भक्त्या असक्तम् आराधयत अस्य त्रिगण गुणानुरागात् सख्यम् ईयिवानिव परस्परम् न बाधते ।

अनुवाद—यथोचित रूप से विवेचन करके, समान पक्षपातयुक्त अनुरागभाव से, बिना (किसी) आसक्ति के सेवन करते हुए इस दुर्योधन के (धर्म, अर्थ एव काम के) त्रिवर्ग परस्पर विरोध नही करते हैं मानो दुर्योधन के गुणो पर लुब्ध होकर वे परस्पर मित्रता को प्राप्त हो गए हो ।

भावार्थ—राजन् ! धर्मार्थकामा परस्परानुपमर्देन वर्धन्ते । उक्तञ्च—धर्मार्थकामा सममेव सेव्या यो ह्येकसक्त स जनो जघन्य । किन्तु दुर्योधनोऽसौ न जघन्य यतो हि तस्य धर्मार्थकामाना त्रिवर्ग निरन्तरमेव वर्धते । गुणवदाश्रयलोभात् परस्पर मैत्रीभाव गतवान् इव प्रतिदिन समुज्जृम्भते । दुर्योधनोऽपि तावदय धर्म. अयमर्थ अय काम इत्यनेन रूपेण सम्यक् विवेचन विधाय तुल्यादरपूर्वक तान्निषेवते ।

टिप्पणी—यथायथम् विभज्य–यथास्व विभज्य, असङ्कीर्णरूप विविच्य इत्यर्थ । यथोचित रूप से । वीप्सा के अर्थ मे निपातनात् यथा शब्द को द्वित्व हो गया है । 'यथास्वे यथायथम्' नियम से नपुंसकलिङ्ग तथा 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' सूत्र से अन्तिम 'यथा' के आकार का ह्रस्व हो गया है । विभज्य का अर्थ है—विभाजन या विवेचन करके (वि + भज् + ल्यप्) । समपक्षपातया भक्त्या—तुल्यादरेण अनुरागविशेषेण । समान पक्षपात वाली भक्ति के साथ । पक्षे पातः इति पक्षपात. (सुप्सुपा-समास), सम तुल्य. पक्षपातः आसक्तिविशेषः यस्या सा सम-

पक्षपाततया समपक्षपातया (बहुव्रीहिसमासः) भवत्या, अनुरागपूर्वकम्। असक्तम्—अनासक्तम्, अव्यसनितया अर्थात् बिना किसी आसक्ति के, निस्सङ्ग भाव से। सञ्ज् + क्त कर्त्तरि = सक्तः, न सक्तः असक्तः (नञ् तत्पुरुष) तत् यथा स्यात्तथा असक्तम् (क्रियाविशेषण)। आराधयतः अस्य—सेवमानस्य दुर्योधनस्य। आ + राध् + लट् लकार—शतृ प्रत्यय, षष्ठी एकवचन। अर्थात् सेवन करते हुए उस दुर्योधन का। त्रिगणः–त्रिवर्गः। त्रयाणां, धर्मार्थकामानां गणः (षष्ठी तत्पु०) इति त्रिगणः। धर्म, अर्थ एवं काम-इन तीनों को त्रिवर्ग कहते हैं। नाटक से इन्हीं तीनो की सिद्धि बताई गई है–'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्।' त्रिवर्ग में 'मोक्ष' को भी संयुक्त कर देने पर 'पुरुषार्थचतुष्टय' संज्ञा बनती है। त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः इत्यमरः। गुणानुरागात्—गुणवदाश्रयलोभात्। गुणों में अनुराग होने के कारण अथवा (दुर्योधन के) गुणानुरोधवश। गुणेषु अनुरागः (अनु + रञ्ज् + घञ् भावे) इति गुणानुरागः (सुप्सुपा), तस्मात्। 'हेतौ पञ्चमी' इस नियम से हेतु (कारण) के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुई है किन्तु 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' नियम से वह वैकल्पिक ही है। सूत्रका अर्थ यह है कि—'स्त्रीलिङ्ग से भिन्न लिङ्ग वाले गुणवाचक शब्दों में हेत्वर्थक पञ्चमी विभक्ति विकल्प से ही होती है।' सख्यम्—मैत्रीभावम्। मित्रता को। सख्युर्भावः सख्यम् (सखि + य प्रत्यय—'सख्युर्यः' सूत्र से)। ईयिवान् इव—प्राप्तवान् इव। प्राप्त किये हुये से। इण् गतौ + लिट्-क्वसुः सु विभक्ति। परस्परम्—अन्योऽन्यम्। एक दूसरे को। परम्-परम् इति परस्परम्। 'कर्म का व्यतिहार अर्थात् क्रिया की अदलाबदली सूचित करने के लिये प्रायः सर्वनाम शब्द का द्वित्व हो जाता है और प्रायः उनमें समास भी कर दिया जाता है' ऐसा वार्तिककार आचार्य कात्यायन का मत है- 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्'। परन्तु आचार्य भट्टोजि दीक्षित अन्य तथा पर शब्दों में समासवद्भाव मानते ही नहीं 'अन्यपरयोः न समासवत्'। इस प्रकार कर्मव्यतिहार के कारण सर्वनाम 'पर' को द्वित्व तो हुआ 'परस्परम्' किन्तु समास नहीं हुआ (अन्यथा 'परपरम्' रूप बनता) अब, जब 'परम्-परम्' के बीच समास नहीं हुआ तो पूर्वपदस्थ (पहले पर में स्थित) सुप् को सु हो गया, वार्तिक है—असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः। इस प्रकार—पर + सु + परम् = परस्परम्। न बाधते—विरोध नहीं करता है (बाध् धातु, लट्लकार प्रथमपुरुष, एकवचन)।

प्रस्तुत श्लोक में 'ईयिवान् इव' आदि शब्दों द्वारा एक सम्भावना व्यक्त की गई, है अतएव यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा'।

अथ श्लोकत्रयेण उपायकौशल दर्शयन्नादौ सामदाने दर्शयति :—

निरत्ययं साम न दानवर्जितं
न भूरिदानं विरहय्य सत्क्रियाम् ।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी,
गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥१२॥

निरत्ययमिति । तस्य दुर्योधनस्य निरत्यय निर्बाधम् ! अमायिकमित्यर्थः, अन्यथा जनाना दुर्ग्रहत्वादिति भावः । साम सान्त्वम् । 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमर । दानर्वजित न प्रवर्तते । अन्यथा लुब्धाच्चावर्जनस्य शुष्कप्रियैर्वाक्यैर्दुष्करत्वादिति भावः । उक्त च—'लुब्धमर्थेन गृह्णीयारसाधुमञ्जलिकर्मणा । मूर्खं छन्दानुराधेन तत्वार्थेन च पण्डितम् ॥' इति । यथा भूरि प्रभूनम् । न तु कदाचित्स्वल्पमित्यर्थः । दान धनत्याग । सदित्यादरार्थेऽव्ययम् । 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातसञ्ज्ञास्मरणात् । तस्य क्रिया सत्क्रिया विरहय्य विहाय । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशो न प्रवर्तते । अनादरे दानवैफल्यादिति भाव. । न चैव सर्वत्र, येनाविवेकित्व कोशहानिश्च स्यादित्याह—प्रति । विशेषशालिन्यतिशययोगिनी सत्क्रियाऽऽदरक्रिया गुणानुरोधेन गुणानुरागेण विना न प्रवर्तते । 'पृथग्विना—'इत्यादिना तृतीया । गुणेष्वादरो भूरिदान चेति नोक्तदोषावकाश इत्यर्थः । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणतया स्थापनादेकावल्यलङ्कार । तदुक्त काव्यप्रकाशे—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परपरम् । विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा इति' ॥१२॥

श्लोकान्वय—तस्य निरत्यय साम दानवर्जित न, भूरिदान सत्क्रिया विरहय्य न, विशेषशालिनी सत्क्रिया गुणानुरोधेन विना न प्रवर्तते ।

अनुवाद—उसका निष्कपट सान्त्ववचन बिना दान के, प्रभूत-प्रचुर दान बिना सत्कार के (और) वैशिष्ट्यपूर्ण सत्कार बिना गुणानुरोध के प्रवृत्त नहीं होता ।

भावार्थ—दुर्योधनस्य सान्त्ववचन कापट्यादिदोषविरहितम् अथच दानादिभिः समलङ्कृत भवति । न च सः वाङ्माधुरीमात्रेण कमप्यर्थिन जन छलयति । दानमपि तस्य तावत् सापमान न भवति प्रत्युत सत्कारपूर्वकमेव प्रवर्तते । एवमेव वैशिष्ट्यमय तस्य सत्कारकर्मापि गुणानुरोधेन बिना न प्रवर्तते । एव हि नयज्ञो दुर्योधनो गुणशालिनाम् एव जनाना समादर विदधाति, समादृत्य च तान् समुपायनादिभिः परितोषयति, परितोष्य च मधुरवचनामृतैस्तान् सभाजयति ! शोभन सत्क्रियाकौशलम् ॥

टिप्पणी—तस्य—दुर्योधनस्य, उस दुर्योधन का । निरत्ययम्—निर्बाधम्, अमायिकम् अर्थात् कपट आदि से विहीन । अत्यय का अर्थ है दोष । अमरकोश के

प्रमाणयानुसार—'अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे दोषे दण्डेऽपि'। इस प्रकार, अत्यय या दोष जिससे निकल जाय उसे निरत्यय करते हैं—निर्गत अत्यय. (अति + ई + अच्-भावे) अस्मात् इति निरत्ययम्। (बहुव्रीहिसमासः)। साम—सान्त्ववचनम्। अर्थात् मधुर-वचन। किसी मनुष्य को वशीभूत करने के लिये नीतिविदो ने चार उपाय बताए है—साम-दान-दण्ड और भेद। साम अथवा मधुरवचन प्रथमचरण है उस क्रम मे। अमरकोश के अनुसार-'साम सान्त्वमुभे समे'। दानःजित न—अर्थात् दान से विहीन नही होता। आचार्य मल्लिनाथ लिखते हैं-यदि दुर्योधन केवल मीठी बातो से ही सबका सत्कार करता तो सफल न होता क्यो कि लोभी व्यक्ति को केवल शुष्क-प्रियवाक्यो से वशीभूत करना असम्भव होता है। नीति भी यही है—लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् साधुमञ्जलिकर्मणा। मूर्ख छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम्॥ दानेन (दा + ल्युट् भावे + टा) वर्जित (वृज् + णिच् + क्त कर्मणि) इति दानवर्जितम् (तृ० तत्पुरुष)। भूरिदानम्—प्रभूत धनदानम्। भूरि का अर्थ है बहुत। 'प्रभूत पुरु भूयिष्ठ स्फार भूयश्च भूरि च' इत्यमर.। सत्क्रियाम्—आदर-क्रियाम्। सत् एक आदरार्थक अव्यय है। आदर तथा अनादर के लिए क्रमश सत् एव असत् शब्दो का प्रयोग होता है। इस प्रकार सत् या आदर की क्रिया को सत्क्रिया कहते हैं। आचार्य मल्लिनाथ लिखते है—सदित्यादरार्थेऽव्ययम्। 'आदरा-नादरयो. सदसती' इति निपातसञ्ज्ञास्मरणात्। तस्य क्रिया सत्क्रियाम्। सती (अस् + लट् + शतृ स्त्रियाम्) क्रिया इति सत्क्रिया, ताम् (कर्मधारय समास.)। विरहय्य—विहाय। विरहित करके, छोड करके (वि + रह + णिच् + ल्यप्) विशेषशालिनी—अतिशययोगिनी अर्थात् वैशिष्ट्य युक्त। विशेषेण (वि + शिष् + घञ् भावे तृ० एकवचन) अतिशयेन शालते शोभते इति विशेषशालिनी (विशेष + शाल् + णिनि कर्त्तरि, ताच्छील्ये)। सत्क्रिया—आदरभाव। गुणानुरोधेन विना—गुणानुरागेण विना अर्थात् बिना गुणानुराग के। गुणानाम् अनुरोधः (अनु + रुध् + घञ्भावे) इति गुणानुरोध., तेन। विना के योग मे तृतीया विभक्ति हुई—'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्'। अर्थात् पृथक्, विना एव नाना के योग मे विकल्पतः तृतीया होती है। न प्रवर्तते—न प्रयुज्यते। नही प्रवृत्त होती है।

प्रस्तुत श्लोक मे एकावली अलङ्कार है, जिसका लक्षण है–स्थाप्यतेऽपोह्यते-वापि यथापूर्वं परं परम्–विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा। अर्थात् जहाँ पूर्व-पूर्व कथन के विशेषण रूप मे उत्तरोत्तर कथन का विधान हो वहाँ एकावली होती है। साम दान के बिना नही होता' दान सत्कार के बिना नही होता, सत्कार गुणानुरोध के बिना नही होता, यह क्रम उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि करता है।

अथ दण्डप्रकारमाह :

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना
स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः ।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा,
निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥१३॥

वसूनीति । वशी दुर्योधनो वसूनि धनानि वाञ्छन्न लोभान्नेत्यर्थः । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । निहन्तीति शेषः । तथा मन्युना कोपेन न च ।'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः । धर्मशास्त्रानुसारेण 'क्रोधलोभविवर्जितः' इति स्मरणादित्यर्थः । किन्तु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन्स्वधर्म इत्येव । स्वस्य राज्ञः सतो ममाय धर्मो ममेद कर्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः 'अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ।' इति स्मरणादिति भावः । गुरूपदिष्टेन प्राड्विवाकोपदिष्टेन । "धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येद् व्यवहारानुक्रमात् ॥" इति नारदस्मरणात् । दण्डेन दमेन । शिक्षयेत्यर्थः ।रिपौ सुतेऽपि वा । स्थितमिति शेषः । एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम् । धर्मविप्लवं धर्मव्यतिक्रमम् । अधर्ममिति यावत् । निहन्ति निवारयति । दुष्ट एवास्य शत्रुः शिष्ट एव बन्धुः । न तु सम्बन्धनिबन्धनः पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः ॥१३॥

श्लोकान्वय—वशी सः वसूनि वाञ्छन् न, मन्युना न, (किन्तु) निवृत्तकारणः स्वधर्म इत्येव गुरूपदिष्टेन दण्डेन रिपौ सुतेऽपि वा धर्मविप्लवं निहन्ति ।

अनुवाद—जितेन्द्रिय दुर्योधन न धनसम्पत्ति की आकांक्षावश (और) न ही क्रोधवश (प्रत्युत) 'यह मेरा धर्म है' बस यही मान कर, पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर, न्यायाधिकरण द्वारा निर्दिष्ट दण्ड से शत्रु अथवा पुत्र के भी सम्बन्ध मे धर्म के व्यतिक्रम का निवारण करता है ।

भावार्थ—दुष्टः एव दुर्योधनस्य शत्रुः शिष्ट एव बन्धुः । न तु सम्बन्धनिबन्धनः पक्षपातः विद्यते तस्य । रिपुः सुतो वा, यः कोऽपि धर्मव्यतिक्रममाचरति तमेव दुर्योधनः गुरूपदिष्टेन दण्डेन नियमयति । तस्य दण्डप्रयोगः न धनापेक्षया न वा कोपापेक्षया प्रत्युत लोभादिकैः सर्वैः पूर्वाग्रहैर्विमुक्तः सन्नेव प्रवर्तते । दुर्योधनः स्वयमेवानुभवति ममेदं कर्त्तव्यमिति ममाय धर्म इति, पश्चाच्च यथोचितमनुवर्तते ।

टिप्पणी—**वशी सः**—जितेन्द्रियः दुर्योधनः, इन्द्रियजयी दुर्योधन । वश का

अर्थ है अधिकार या नियन्त्रण। यह नियन्त्रण जिसके पास हो वही वशी है-वश. अस्यास्तीति वशी(वश+इनि,मत्वर्थे)। वसूनि-धनानि, धनसम्पत्ति को। वैजयन्ती-कोश के अनुसार—'वसु तोये धने मणौ।' 'वसूनि' वसु शब्द का द्वितीया बहुवचन का रूप है। वाञ्छन् न—अभिलषन् न अर्थात् न चाहता हुआ (वाञ्छ् धातु+लट्+शतृ प्रत्यय, प्रथमा विभक्ति एकवचन)। मन्युना न—कोपेन न अर्थात् न ही क्रोधवश। मन्यु का अर्थ है क्रोध—'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमर.। हेतौ तृतीया। निवृत्तकारण—अपगतहेतु अर्थात् पूर्वाग्रहो से मुक्त, बिना किसी विशेष कारण के। आचार्य मल्लिनाथ लिखते है—निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन्। निवृत्तं (नि+वृत्+क्त) अपगत कारण लोभादिहेतु यस्य स निवृत्तकारण (बहु० समास)। स्वधर्मं—अपना धर्म है, स्वस्य आत्मनः धर्म. इति स्वधर्मः (षष्ठी तत्पु०)। इत्येव--अस्मादेव हेतोरित्यर्थ. अर्थात् इसी कारण से। गुरूपदिष्टेन—प्राड्विवाकोपदिष्टेन, अर्थात् धर्माधिकारियो द्वारा निर्दिष्ट किये गए। गुरुणा+उपदिष्ट (उप+दिश क्त कर्मणि) इति गुरूपदिष्ट तेन (तृतीया तत्पु०)। राजा का धर्म है कि वह समुचित न्याय की व्यवस्था करे अन्यथा वह अपयश का भागी होता है। नीति भी यही कहती है—अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्याश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरक चैव गच्छति। अतएव महर्षि नारद के मतानुसार-धर्मशास्त्र पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः। समाहितमति पश्येत् व्यवहाराननुक्रमात्॥दण्डेन-- दमेन, दण्ड द्वारा। रिपौ सुतेऽपि वा—शत्रौ पुत्रेऽपि वा अर्थात् शत्रु अथवा पुत्र ही क्यो न हो किन्तु उसमे भी। धर्मविप्लवम्–धर्मव्यतिक्रमम् अधर्ममिति यावत्। धर्म के उल्लङ्घन को या अतिक्रमण को। जो मानवसमाज को धारण करे, उसे स्थिरता दे वही धर्म है। ध्रियतेऽनेन इति धर्म. (धृ+म करणे)। धर्मस्य विप्लव. (वि+प्लु+अप् भावे) इति धर्मविप्लवः, तम् (षष्ठी तत्पु०)। निहन्ति—निवारयति, रोकता है (नि+हन्, लट् लकार प्रथमपुरुष एक वचन)।

सम्प्रति भेदकौशल दर्शयति :—

विधाय रक्षान परितः परेतरा-
नशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियापवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः
कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ॥१४॥

विधायेति। शङ्का सञ्जाताऽस्य शङ्कितोऽविश्वस्तः सन्परितः सर्वत्र स्वपर-

मण्डले परेतरानात्मीयान् । अवञ्चकानिति यावत् । यद्वा परानिनरयन्ति भेदेनात्मशात्कुर्वन्तीति परेतरान् । 'तत्करोतीति, ण्यन्तात्कर्मण्यण्प्रत्ययः । रक्षन्तीति रक्षान् रक्षकान् । मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः । 'नन्दिग्रही' त्यादिना पचाद्यच । विधाय कृत्वा । नियुज्येत्यर्थः । अशङ्किताकारमुपैति । स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन्परमुखेनैव परान् भिनत्तीत्यर्थः । न तान्रक्षानुपेक्षते येन तेऽपि विकुर्वीरन्नित्याह—क्रियेति । क्रियाऽपवर्गेषु कर्मसमाप्तिष्वनुजीविसात्कृता भृत्याधीनाः कृताः । अपरावर्तितया दत्ता इत्यर्थः । 'देये त्रा च' इति सातिप्रत्ययः । सम्पदः अस्य राज्ञः कृतज्ञतामुपकारित्व वदन्ति । प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्व प्रकाश्यते, न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः । कृतज्ञे राजन्यनुजीविनोऽनुरज्यन्तेऽनुरक्ताश्च त रक्षन्तीति भावः ।।१४।।

श्लोकान्वय—शङ्कितः परितः परेतरान् रक्षान् विधाय अशङ्किताकारम् उपैति । क्रियापवर्गेषु अनुजीविसात्कृता सम्पदः अस्य कृतज्ञता वदन्ति ।

अनुवाद—सशङ्क होता हुआ भी वह दुर्योधन, चारो ओर आत्मीय रक्षकों को नियुक्त करके, निश्शङ्क व्यक्तियो जैसा स्वभाव बनाये रहता है । कार्य की समाप्ति हो जाने पर सेवको के अधीन की गई (अर्थात् उन्हे दी गई) सम्पत्तियाँ उसकी कृतज्ञता को सूचित करती हैं ।

भावार्थ—राजन् ! पूर्वमेव मयोक्त यदसौ दुर्योधनः निरन्तरमेव भवतः पराभव विशङ्कते । तथापि नयज्ञोऽसौ सर्वासु दिक्षु अवञ्चकान् नियुज्य स्वकीयान् रक्षकान् आत्मान वीतचिन्तमिव प्रदर्शयति । स्वभावेन सर्वथा असन्दिहान इव परिलक्ष्यते । वस्तुतस्तु तस्य निखिल वैभव सेवकायत्तमेव । अतएव दुर्योधनोऽपि कार्यावसानेषु तेभ्योऽनुचरेभ्यो बहुविधपारितोषिकादिसम्पत्तिप्रीतिदानानि वितीर्य स्वोपकारित्व सूचयति ।

टिप्पणी—शङ्कित –अविश्वस्तः, अर्थात् शङ्कालु होता हुआ । शङ्का जिसमे उत्पन्न हो जाय उसे शकित कहते हैं—शका सञ्जाता अस्य इति शङ्कितः (शङ्का + इतच्प्रत्यय-तारकादिभ्यः इतच्) । परितः—सर्वत्र, सर्वत , चारो ओर । 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमर. । परेतरान्—आत्मीयान् अवञ्चकान् इति यावत् । विश्वस्त, आत्मीय । जो 'पर' अर्थात् शत्रु से इतर हो वे परेतर है अर्थात् स्वपक्षीय अथवा मित्रगण । परेभ्यः शत्रुभ्य इतरे इति परेतरे, तान् परेतरान् (पञ्चमी तत्पु०) । अथवा परः शत्रुः इतर. अन्यः येभ्यस्ते परेतराः तान् परेतरान् (बहुव्रीहिसमासः) परेतर मे जब पञ्चमी तत्पुरुष समास होगा तब 'इतर' शब्द सर्वनाम होगा किन्तु बहुव्रीहि मे ('न बहुव्रीहौ' सूत्र से) उसका निषेध हो जाने से

'इतर' एक अकारान्त सञ्ज्ञा शब्द की भाँति होगा। रक्षान्—रक्षन्ति इति रक्षान् रक्षकान्, मन्त्रगुप्तिसमर्थान् इत्यर्थः (रक्ष् + अच् प्रत्यय) । रहस्य को गोपनीय रखने वाले रक्षकवर्ग। विधाय—कृत्वा, नियुज्य अर्थात् नियुक्त करके । (वि + धा + ल्यप्) अशङ्कितकारम्—अशङ्कित (व्यक्ति) के आकार को (प्राप्त होता है) अशङ्कितस्य असन्दिहानस्य आकार (आ + कृ + घञ्) इति अशङ्किताकार (षष्ठी तत्पु०) तम्। आचार्य मल्लिनाथ का स्पष्टीकरण-'स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन्।' उपैति—प्राप्त करता है (उप+इ + लट्लकार, प्रथम-पुरुष ए० व०)। क्रियापवर्गेषु—कर्मसमाप्तिषु अर्थात् कार्यों की समाप्ति होने पर। क्रियाणां कार्याणाम् अपवर्ग (अप + वृज् + णिच् + घञ्भावे) इति क्रियापवर्ग. (षष्ठी-तत्पुरुष), तेषु। 'सतिसप्तमी' (यस्य च भावेन भावलक्षणम्) का प्रयोग द्रष्टव्य। अनुजीविसात्कृता-भृत्याधीनाः कृताः अर्थात् अनुजीवियो (सेवकों) द्वारा प्राप्त की गई (अनुजीविन् + साति = अनुजीविसात् + कृ + क्त कर्मणि, टाप्स्त्रियाम्)। सम्पद.—सम्पत्तियाँ (प्रथमा विभक्ति बहुवचन का रूप)। अस्य-दुर्योधनस्य, उस दुर्योधन की । कृतज्ञताम्—उपकारित्वम् अर्थात् उपकार भावना को। जो किए गए उपकार को जाने, आभार माने वह 'कृतज्ञ' है। कृतज्ञ के भाव को कृतज्ञता कहते है—कृत जानाति इति कृतज्ञः (कृत+ज्ञा+क कर्त्तरि), कृतज्ञस्य भावः कृतज्ञता (कृतज्ञ+तल्+टाप्), ताम्।

अथ उपा-प्रयोगस्य फलवत्ता दर्शयति :—

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता,
विभज्य सम्यग विनियोगसत्क्रियाः।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायती-
रुपेत्य सङ्घर्षमिवार्थसम्पदः ॥१५॥

अनारतमिति। तेन राज्ञा पदेषूपादेयवस्तुषु। 'पद व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। सम्यगसंकीर्णमव्यस्त च विभज्य विविच्य। विनियोगसत्क्रिया.। विनियोग इव सत्क्रियाऽनुग्रहः। सत्कार इति यावत्। यासां ताः लम्भिताः स्थानेषु सम्यक्प्रयुक्ता इत्यर्थ.। उपायविशेषण वा। उपायाः सामादय.। सङ्घर्षं परस्परस्पर्धामुपेत्येवेत्युत्प्रेक्षा। परिबृंहितायतीः प्रचितोत्तरकालाः। स्थिरा इत्यर्थः। अर्थसम्पदः अनारतमजस्रं फलन्ति। प्रसुवत इत्यर्थः ॥१५॥

श्लोकान्वय-तेन पदेषु सम्यक् विभज्य विनियोगसत्क्रिया लम्भिताः उपायाः सङ्घर्षम् उपेत्यइव परिबृंहितायतीः अर्थसम्पद. अनारत फलन्ति।

अनुवाद—दुर्योधन द्वारा, यथोचित विवेचन करके प्राप्य या उपादेय वस्तुओ मे प्रयोग रूपी सत्कार को प्राप्त कराए गए सामादि उपाय मानो परस्पर स्पर्धा करते हुए चिरकाल तक अक्षुण्ण रहने वाली अर्थसम्पत्तियो को निरन्तर फला करते है।

भावार्थ—दुर्योधन यथोचित विविच्यैव सामादीनाम् उपायाना प्रयोग करोति। यतो हि प्रयोगवैषम्ये न तेषा फलवत्त्वम्। यथोचितसन्दर्भेषु यदि सामाद्युपायाना विनियोगः क्रियते तद् स एव तेषा सत्क्रिया भवति। सोऽसौ सुयोधनः एवमेव विदधाति। फलतश्च ते सामादिकाः उपाया परस्परस्पर्धाभावम् उपेत्य-इव प्रभूत सम्पत्तिराशिं निरन्तरमेव फलन्ति। स च सम्पत्तिराशि चिरकालावस्थायी भवति।

टिप्पणी—तेन—उस दुर्योधन द्वारा। पदेषु—उपादेयवस्तुषु,—कर्मसु इत्यर्थ। यथोचित स्थानो मे उदा० दण्डनीय व्यक्ति के सन्दर्भ मे साम का प्रयोग अथवा मित्र के प्रति भेद का प्रयोग उचित नही है। सामाद्युपाय तभी सफल होते हैं जब उनका उचित प्रयोग हो अन्यथा अपना ही विनाश करते हैं। पद का सामान्य अर्थ है स्थान—'पद व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। सम्यक्प्रविभज्य—असङ्कीर्णं विविच्य, अर्थात् भलीभाँति विवेचन करके, अच्छी तरह समझबूझ करके। विनियोगसत्क्रिया—प्रयोगानुग्रहान् अर्थात् प्रयोग रूपी सत्कार या समादर को। विनियोग. (वि + नि + युज् + घञ् भावे) एव सत्क्रियाः इति विनियोगसत्क्रिया. (द्वितीयाबहुवचन, कर्मधारयसमास) । आचार्य मल्लिनाथ लिखते हैं—'उपायविशेषण वा' अर्थात् इस शब्द को 'उपाया.' का विशेषण भी माना जा सकता है। तब इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी—विनियोग सत्क्रिया येषा ते, उपायाः (बहु० समास)। लम्भिताः—प्रापिता, स्थानेषु सम्यक् प्रयुक्ता इत्यर्थ. अर्थात् प्राप्त कराए गए (लभ् + णिच् + क्त कर्मणि)। उपायाः—सामादय, साम, दान, दण्ड और भेद ये चार उपाय। जिसके द्वारा किसी के समीप पहुँचा जाय उसे उपाय कहते है—उपैति उपायते वा एभि. इति उपाया (उप + इ + अच् अथवा उप+अय्+घञ्-करणे)। नीतिशास्त्र में ये उपाय चतुर्विध बताए गए हैं। सङ्घर्षम् उपेत्य इव—मानो सघर्ष को प्राप्त करते हुए। इव का प्रयोग यहाँ उत्प्रेक्षा (सभावना) के अर्थ मे हुआ है। सघर्ष (सम् + घृष् + घञ् भावे) का अर्थ है—'परस्परस्पर्धाभाव' तथा उपेत्य (उप + इ + ल्यप्) का अर्थ है प्राप्त करके। परिबृंहितायतीः—प्रचितोत्तरकाला. स्थिरा इत्यर्थ, अर्थात् जिनकी 'आयति' (भोगकाल, जीवन की अवधि, कालक्षमता) 'परिबृंहित' (वृद्धियुक्त या

अक्षुण्ण) हो। परिबृंहिता (परि + बृह् + णिच् + क्त कर्मणि, स्त्रियाम्) आयति. (आ + यम् + क्तिन् भावे) यासां ता परिबृंहितायतीः (द्वितीया बहुवचन)। यह शब्द अर्थसम्पदः का विशेषण है। अर्थसम्पदः-अर्थसम्पत्तियों को अर्थात् प्रभूत धनराशि को, सम्पन्न अर्थराशि को। अर्थानां सम्पत् इति अर्थसम्पत्, ता (द्वितीया बहुवचन)। अनारतम्—निरन्तरम् ('सततानारताश्रान्तसन्ततावि-रतानिशम्' इत्यमर) अर्थात् जो आरत या विच्छिन्न न हो—आ + रम् + क्त कर्तरि = आरतम् (विच्छिन्नम्), न आरतम् अनारतम् (अविच्छिन्नम् इत्यर्थः) नञ्तत्पुरुष समास। यहाँ क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। फलन्ति—उत्पन्न करते हैं।

प्रस्तुत पद्य मे 'उपेत्य इव' प्रयोग के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। सामादि यथार्थतः कभी प्रतिस्पर्धा नहीं करते तथापि अर्थसौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए कवि उनकी प्रतिस्पर्धा की एक सम्भावना मात्र कर लेता है, और यही 'सम्भावना' उत्प्रेक्षालङ्कार का प्राणतत्त्व है—'भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।'

अर्थसम्पदमेवाह –

अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं,
तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां,
भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ॥१६॥

अनेकेति। अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णपुष्पस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासावयुग्मच्छ-दगन्धि: 'सप्तम्युपमान'—इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च। 'उपमानाच्च' इति समासान्त इकारः। नृपाणामुपायनान्युपहारभूता ये दन्तिनस्तेषां नृपोपायनदन्तिनां मदः। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। राज्ञामपत्यानि पुमांसो राजन्याः क्षत्रियाः। 'राजश्वशुराद्यत्' इति यत्प्रत्ययः। राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणादन्। रथाश्चा-श्वाश्च रथाश्वम् सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः। अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन सकुलं व्याप्तं अनेकराजन्यरथाश्वसकुलं तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरं सभामण्डपाङ्गणं भृशमत्य-र्थमार्द्रतां पङ्किलत्वं नयति। एतेन महासमृद्धिरस्योक्ता। अतएवोदात्तालङ्कार.। तथा चालङ्कारसूत्रम्—'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्त.' इति ॥१६॥

श्लोकान्वय–अयुग्मच्छदगन्धिः नृपोपायनदन्तिनां मदः अनेकराज्यन्यरथाश्व-संकुलम् तदीयम् आस्थाननिकेतनाजिरम् भृशम् आर्द्रतां नयति।

अनुवाद—नरपतियो द्वारा उपहारस्वरूप अर्पित किए गए गजराजो का, सप्तपर्णपुष्पो की गन्धवाला मदजल, अनेक क्षत्रियराजपुत्रो के रथो एव अश्वो से सकुल, उसके सभामण्डप के प्राङ्गण को अत्यधिक पङ्किल बनाए रहता है।

भावार्थ—राजन्! निरन्तरमेव तस्य सुयोधनस्य सभामण्डपप्राङ्गण पङ्क-क्लिन्न दृश्यते। ये खलु राजपुत्रा अधीश्वर त प्रसादयितु मत्तगजराजान् समुपायनी-कुर्वन्ति तेषामेव मत्तमतङ्गजना सप्तपर्णपुष्पपरिमलेन मदजलेन तत्प्राङ्गणमार्द्रत्वं नेनीयते। प्राङ्गणञ्चापि सुयोधनस्य समागतराजपुत्राणा रथैस्तुरगैश्च परिव्याप्तं भवति। ईदृशी खलु वर्तते अर्थसम्पत्ति सुयोधनस्य!

टिप्पणी—अयुग्मच्छदगन्धि—सप्तपर्णपुष्पसुरभि, अर्थात् सप्तपर्ण पुष्प के समान गन्धवाला (मद. का विशेषण)। 'अयुग्मच्छद' का अर्थ है जिसके 'छद' या पत्ते 'युग्म' (जोडे या जूँस) न हो अर्थात् एक, तीन, पाँच या सात, इस तरह के हो। चूँकि सतौनावृक्ष (सप्तपर्ण) की प्रत्येक टहनी मे सात ही पत्ते होते हैं और चूँकि 'सात' युग्म या जूँस सख्या नही है, अत इस वृक्ष का दूसरा नाम 'अयुग्मच्छद' भी है। अमरकोश मे इसी को विषमच्छद भी कहा गया है—सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छद। न युग्म अयुग्म (नञ् तत्पु०) अयुग्मा: (—सप्त) छदा: पत्राणि अस्येति अयुग्मछद: (बहु० समास.) तस्य विकार. पुष्पम् इति अयुग्मच्छदम् (अयुग्मच्छद + अण् प्रत्यय)। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस अण् प्रत्यय का यहाँ लोप हो गया 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' वार्तिक से तथा 'द्विहीन प्रसवेसर्वम्, (अर्थात् पुष्प एव फल सूचक शब्द सदैव नपुसकलिङ्ग मे ही प्रयुक्त होते है) नियम से क्लीबत्व की प्राप्ति हुई। इस प्रकार 'अयुग्मच्छदम्' का अर्थ हुआ 'सप्तपर्णपुष्पम्'। आगे की प्रक्रिया इस प्रकार है—अयुग्मच्छदस्य गन्ध इत्ययुग्मच्छदगन्ध (षष्ठी तत्पुरुष) अयुग्मच्छदगन्ध इव गन्ध अस्य इति अयुग्मच्छदगन्धि (बहुव्रीहि) प्रस्तुत विग्रह मे दो 'गन्ध' शब्द आए हैं जिनमे से कि समास होने पर दूसरे 'गन्ध' शब्द का लोप हो गया है। वार्तिक है सप्तम्युपमानपूर्वस्योत्तरपदलोपश्च वक्तव्य। अर्थात् सप्तमी मे प्रयुक्त तथा उपमान पूर्वपद से बहुव्रीहि समास हो, साथ ही साथ उत्तरपद का लोप हो। उपर्युक्त विग्रह मे 'अयुग्मच्छदगन्ध' उपमान पूर्वपद था अत: बहुव्रीहि-समास हुआ साथ ही उत्तरपद यानी दूसरे 'गन्ध' शब्द का लोप भी हो गया। अब 'उपमानाच्च' (अर्थात् उपमान पद के बाद अन्त मे आने वाले शब्द को इकार अन्तादेश हो) नियम से 'गन्ध' शब्द के अन्त मे 'इ' आदेश हो गया और शब्द बना-'अयुग्मच्छदगन्धि'। नृपोपायनदन्तिनाम्—राजाओ द्वारा उपहार स्वरूप दिये गए हाथियो का। उपायन का अर्थ है भेट, उपहार—उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा।

इत्यमरः (उप+इ+ल्युट् भावे) दन्ती का अर्थ है हाथी, जिसके दाँत हों—दन्तौ स्तः इति दन्तिनः (दन्त+इनि मत्वर्थे, प्रशंसायाम् आतिशय्येवा) उपहार-स्वरूप हाथियों को 'उपायनदन्तिनः' कहेंगे— उपायनानि एव दन्तिनः इति उपायनदन्तिनः (कर्मधारय) नृपाणाम् उपायनदन्तिन इति नृपोपायनदन्तिनः (ष० तत्पु०) तेषाम् मदः। मदजल या दानवारि। गण्डः करो मदो दानम् इत्यमरः। अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलम्—अनेक क्षत्रियनरेशों के रथों एवं अश्वों से परिव्याप्त। अनेक का अर्थ है—बहुत, अगणित। राजा की सन्तति को 'राजन्य' कहते हैं मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट् इत्यमरः। राज्ञाम् अपत्यानि पुमांसो राजन्याः क्षत्रियाः (राजन्+यत्) राजन्य शब्द में अपत्यार्थक यत् प्रत्यय 'राजश्वशुराद्यत्' (जातावेव इति वाच्यम्) सूत्र से जाति सूचित करने के लिए हुआ है। 'रथाश्व' शब्द में समाहार-द्वन्द्व समास है-रथाश्च अश्वाश्च इति रथाश्वम् ('द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' सूत्र से समाहार-द्वन्द्व तथा नपुंसकलिङ्गता। इस सूत्र का अर्थ है-प्राणी, तूर्य एव सेना के अङ्गों का समस्तपद द्वन्द्वसमास से नपुंसकलिङ्ग होता है)। सङ्कुल का अर्थ है भरा हुआ—सम्+कुल+क कर्त्तरि। अब सम्पूर्ण शब्द की व्याख्या देखें--न एके इति अनेके (नञ् तत्पु०) अनेके राजन्याः इति अनेकराजन्याः (कर्मधारय) अनेकराजन्यानां रथाश्वम् इति अनेकराजन्यरथाश्वम् (षष्ठी तत्पु०) अनेकराजन्यरथाश्वेन सङ्कुलम् इति अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलम् (तृतीया तत्पु०)। तदीयम्—दुर्योधनस्य, दुर्योधन के। तस्य इदम् इति तदीयम् (तद्+छ=ईय) आस्थाननिकेतनाजिरम्—सभामण्डपप्राङ्गणम्, सभाभवन के आँगन को। जिसमें स्थित हुआ जाय वह 'आस्थान' है-आस्थीयते अस्मिन् इति आस्थानम् (आ+स्था+ल्युट् अधिकरणे)। अमरकोश के अनुसार—'आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः।' जिसमें निवास किया जाय वह 'निकेतन' है—निकित्यते अस्मिन् इति निकेतनम् (नि+कित्+ल्युट् अधिकरणे) 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः। अजिर का तात्पर्य है 'आँगन'। 'अङ्गनं चत्वराजिरे' इत्यमरः। पूरी व्याख्या इस प्रकार होगी-आस्थानस्य निकेतनम् इति आस्थाननिकेतनम् (षष्ठी तत्पु०), तस्य अजिरम् (पुनः षष्ठी तत्पु०) तत्। भृशम्—अत्यर्थम् अत्यधिकम्। आर्द्रताम् -पङ्किलत्वम् अर्थात् गीलेपन को। नयति-प्रापयति, गमयति, प्राप्त करा देता है।

प्रस्तुत पद्य में सुयोधन के लोकातिशायी वैभव का वर्णन होने के कारण 'उदात्त' अलङ्कार है। परिभाषा है—'लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते।' आचार्य मल्लिनाथ अलङ्कारसूत्र का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—समृद्धिमद्वस्तुवर्ण-

नमुदात्त' इति ।

सम्प्रति जनपदक्षेमकरत्वमाह :—

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलै-
रकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः ।
वितन्वति क्षेममदेवमातृका-
श्चिराय तस्मिन् कुरवश्चकासति ॥१७॥

सुखेनेति । चिराय तस्मिन् दुर्योधने क्षेम वितन्वति क्षेमङ्करे सति । देवः पर्जन्यः माता येषा देवमातृकाः वृष्ट्यम्बुजीविनो देशा ते न भवन्ति इति 'अदेवमातृका' नदीमातृका इत्यर्थः । "देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः । स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम् ॥" इत्यमरः । एतेनास्यकुल्यादिपूर्तप्रवर्त्तकत्वम् उक्तम् । कुरूणा निवासा· कुरवो जनपदविशेषाः । कृष्टेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्या । "राजसूय०—" इत्यादिना कर्मकर्त्तरि क्यप्प्रत्ययान्तो निपात. । तद्विपरीता अकृष्टपच्याः इव । कृषिर्येषामस्तीति कृषीवलै । कर्षकैरित्यर्थः । "रजःकृषि—" आदिना वलच् प्रत्यय. । 'वले' इति दीर्घः । सुखेनावलेशेन लभ्या· लब्धु शक्या· सस्यसम्पदो दधतो धारयन्त· । "नाभ्यस्ताच्छतु" इति नुमागमप्रतिषेधः । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसज्ञा । सपन्नजनपदत्वादसतापकरत्वाच्च दुःसाध्योऽयमिति भाव· ॥१७॥

श्लोकान्वय—चिराय तस्मिन् क्षेम वितन्वति अदेवमातृकाः कुरव· अकृष्टपच्या इव कृषीवलै. सुखेन लभ्या सस्यसपद. दधत चकासति ।

अनुवाद—चिरकाल से दुर्योधन द्वारा प्रजा का कल्याण करते रहने की स्थिति मे, वर्षाजल के भरोसे न रहने वाला कुरुप्रदेश, बिना जोती हुई भूमि मे ही पकी हुई सी (तथा) कृषको को अनायास प्राप्त होने वाली सस्यसम्पदा को धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा है।

भावार्थ—सुयोधनेन किन्न मङ्गल कृत प्रजोपकाराय । कुरुजाङ्गलप्रदेशे तेन कूपकुल्यादीनि सेचनसाधनानि विधाय निखिलमेव भौतिक भव्य प्रदत्तम् । फलतश्च कुरुप्रदेश न साम्प्रत वर्षाजलमपेक्षते कृषिकर्मणे । एव प्रतीयते यत् कृषाणाः कर्षणं विनव निरायास सस्यसम्पदमाप्नुवन्ति, सर्वोत्कर्षेण च वर्तन्ते ।

टिप्पणी—चिराय—चिरकाल से, द्वितीया के अर्थ मे प्रयुक्त सुबन्तप्रतिरूपक अव्यय । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमर । तस्मिन्—दुर्योधने, उस (दुर्योधन) के द्वारा ['यस्य च भावेन भावलक्षणम्'—'सति सप्तमी'

का प्रयोग है यहाँ] । क्षेमम्–भव्यम्, कल्याण को, मङ्गल को । वितन्वति-आवहति (सति), वितरित करते रहने पर । आचार्य मल्लिनाथ लिखते है— 'क्षेमङ्करे सति' अर्थात् कल्याणसाधक बने रहने पर (वि + तन् + शतृ, सप्तमी एकवचन) । अदेव-मातृका·—अवृष्ट्यम्बुजीविनः, वर्षाजल के भरोसे न रहने वाले । इन्द्र को वर्षा का देवता माना जाता है यदि प्राकृतिक वर्षा न हो तो कृषिकार्य का होना सर्वथा असम्भव हो जाता है । अतएव 'वर्षा का देवता' (इन्द्र या पर्जन्य) ही किसानो के लिए 'माता' के समान है । क्योंकि माँ ममतामयी होती है, शिशु को भूखा मरता नही देख सकती । इस प्रकार वर्षा-देव ही जिनकी माँ हो उन किसानो को 'देवमातृक' कहा जायेगा और जो वृष्टिदेवता के भरोसे न रहकर स्वय खेतीबारी कर ले, राज–कीय सेचनसाधनो से वे 'अदेवमातृक' है । अमरकोष ऐसे प्रदेश को 'नदीमातृक' की सज्ञा देता है-'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालित. । स्यान्नदीमातृको देवमातृ-कश्च यथाक्रमम् ।' यद्यपि देवमातृक प्रदेश नदीमातृक प्रदेशो से कही अधिक सुख-सम्पन्न होते है फिर भी सुयोधन ने अपने साम्राज्य मे सिचाई आदि का इतना सुखद प्रबन्ध किया है कि कुरुप्रदेश मे कोई कष्ट नही है । यह भी उसकी लोकप्रियता का परिचायक है । देव. वृष्टिरूप माता येषा ते देवमातृकाः (बहुव्रीहिसमास. समासान्त कप् प्रत्ययः) न देवमातृकाः इति अदेवमातृकाः (नञ् तत्पु०) । कुरव – कुरूणा निवासा· कुरवो जनपदविशेषा., सुयोधन द्वारा प्रशासित कुरुजाङ्गल-प्रदेश (कुरु + अण् + जनपदे लुप्) । अकृष्टपच्या इव— अयत्नपरिणताः इव कर्ष-णादि (जुताई) के बिना ही पकी हुई, (सस्यसम्पद का विशेषण) खेत की जुताई आदि करके जो फसल पकाई जाय, प्राप्त की जाय उसे 'कृष्टपच्या' कहते हैं–कृष्टेन (कृष् + क्त कर्मणि + टा) कर्षणेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्या (कृष्ट + पच् + क्यप् कर्मकर्त्तरि—'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथा ' सूत्र से निपात-नात् क्यप् प्रत्यय का प्रयोग । न कृष्टपच्या इति अकृष्टपच्याः (नञ् तत्पु०) । इव का प्रयोग उत्प्रेक्षा के अर्थ मे हुआ है । कृषीवलैः—कर्षकै इत्यर्थ. अर्थात् कृषकगणो द्वारा । जिनके पास खेतीबारी हो वे कृषीवल है–कृषि· अस्ति एषाम् इति कृषीवलाः (कृषि + वलच् प्रत्यय मत्वर्थीय), तैः कृषीवलैः (अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया) मत्वर्थीय वलच् प्रत्यय यहाँ 'रज कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' सूत्र से हुआ है । तात्पर्य है—रजस् कृषि, आसुति और परिषद्—इन शब्दो से मत्वर्थ मे वलच् प्रत्यय होता है । वस्तुत. इस नियम से भी रूप बनना चाहिये था—'कृषिवलैः' परन्तु कृषि का ह्रस्व इकार दीर्घ हो गया है 'वले' सूत्र से, जिसका अर्थ है—वलच् प्रत्यय परे रहने पर पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है । कृषीवल का अर्थ है किसान—'क्षेत्राजीवः

कर्षकश्च कृषकश्च कृषीवल:' इत्यमर: । सुखेन लभ्या —बिना किसी आयास या क्लेश के प्राप्त होने योग्य । सुखेन अक्लेशेन लभ्या. (लभ् + यत् कर्मणि) लब्धुं शक्या. । 'प्रकृत्यादिभ्य· उपसख्यानम्' इस नियम से 'सुखेन' मे तृतीया विभक्ति । सस्यसम्पद.— सम्पन्नानि सस्यानि, अर्थात् कृषिसमृद्धियो को । सस्याना (सस् + क्यप्) सम्पद· इति सस्यसम्पदस्ता· (षष्ठी तत्पु०) ! 'वृक्षादीनां फलं सस्यम्' इत्यमर· । दधत धारयन्त:, धारण करते हुए (धा+लट्+शतृ प्रथमा बहुव०) चकासति—सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते अर्थात् शोभित हो रहे है (चकास्+लट लकार, प्रथमपुरुष बहुवचन) ।

ननु एव जनपदानुवर्तिन: कथमर्थलाभ इत्यत आह —

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः
प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता
वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥१८॥

उदारेति । उदारकीर्तेर्महायशस । 'उदारो दातृमहतो:' इत्यमर: दयावत: परदु खप्रहाणेच्छो· अतएव प्रशान्तबाध प्रशमितोपद्रव यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् उदयविशेषणम् वा । 'वा दान्तशान्त'—इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तान्निष्ठान्तो निपात· । अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदय वृद्धि दिशत: सम्पादयतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य । 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्व:। अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिरुपस्नुता द्राविता मेदिनो वसूनि धनानि । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। स्वय प्रदुग्धे अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थ. । दुहे कर्मकर्तरि लट् । 'न दुहस्नुनमा यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेध: यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौ. स्वय प्रदुग्धे तद्वदिति भाव· । अलकारस्तु—'विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्ति.' इति सर्वस्वकार· । अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताङ्गया भेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोह्यत्वेनोक्तिरिति सङ्क्षेप: ॥१८॥

श्लोकान्वय–उदारकीर्ते प्रशान्तबाधम् अभिरक्षया उदय दिशत· वसूपमानस्य अस्य गुणै: उपस्नुता मेदिनी वसूनि स्वय प्रदुग्धे ।

अनुवाद—महायशस्वी दयावान् निर्विघ्न प्रजासरक्षण द्वारा वृद्धि प्राप्त करने वाले, कुबेर के समान इस सुयोधन के गुणो से द्रवीभूत पृथ्वी स्वयमेव सम्पदाओ को प्रस्तुत कर रही है ।

भावार्थ—राजन् ! अनारतमेव प्रजासरक्षणतत्परस्य जनपदानुवर्तिनस्तस्य सुयोधनस्य कोषागार न कदापि रिक्त भवति। यद्यपि प्रजामङ्गलसाधने तस्य प्राज्य धन व्ययमुपयाति तथापि रत्नगर्भा सेय धरित्री धनदोपमस्य तस्य सद्गुणै द्रवीभूता इव स्वयमेव धनानि प्रसूते । यथा खलु स्ववत्सवात्सल्याभिभूता धेनु. स्वयमेव दुग्ध विमुञ्चति तथैव वत्सायमानस्य सुयोधनस्यापि कृते पृथ्वीयम् आनुकूल्यमुपगता।

टिप्पणी—उदारकीर्तेः—महायशस: अर्थात् महायशस्वी। उदार कीर्ति हो जिसकी वह उदारकीर्ति है—उदारा (उद् + ऋ + घञ् भावे, स्त्रीलिग) कीर्तिः (कृत् + क्तिन् भावे) यस्य स· (बहु० समास) । दयावत.—परदु खप्रहाणेच्छो·, अर्थात् दूसरे के दु.ख को विनष्ट करने की इच्छा वाला, दयावान्। जो दयासम्पन्न हो वह दयावान् है —दया अस्ति अस्य इति दयावान् (दया + मतुप्), तस्य। प्रशान्तबाधम्—प्रशमितोपद्रवम् यथा स्यात्तथा इति क्रियाविशेषणम्। निर्विघ्न रूप से। प्रशान्ता (प्र + शम् + क्त कर्मणिस्त्रियाम्) बाधा (बाध् + अ भावे + टाप्) यस्मिन् कर्मणि, तत् यथा स्यात्तथा प्रशान्तबाधम्।आचार्य मल्लिनाथ 'प्रशान्तबाधम्' को 'उदयम्' का विशेषण भी मानने का विकल्प प्रस्तुत करते हैं। उस स्थिति मे व्याख्या इस प्रकार होगी। प्रशान्ता बाधा यस्मिन् सः प्रशान्तबाध (उदयः), तम् (बहुव्रीहिः) । अभिरक्षया— सर्वतस्त्राणेन अर्थात् सार्वत्रिक सुरक्षा के साथ-अभि + रक्ष् + अ भावे + टाप् स्त्रियाम् (तृतीया, एकवचन) उदयम्—वृद्धिम्, अभिवृद्धिको, विकास को (उत् + इ + अच्भावे, द्वितीया एकवचन) दिशतः—सम्पादयत· अर्थात् सम्पन्न करते हुए (दिश् + लट् + शतृ षष्ठी एकवचन)। वसूपमानस्य अस्य—कुबेरसदृशस्य, धनदकुबेर के समान सुयोधन के। वसु अर्थात् कुबेर जिसके उपमान हो वह वसूपमान है। वसु कुबेरः उपमान यस्य स. (बहुव्रीहि·) तस्य वसूपमानस्य। 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वकोश.। गुणैः—दयादाक्षिण्यादिभि· अर्थात् दया, दाक्षिण्य आदि गुणो से (अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया)। उपस्नुता-द्राविता, प्लाविता। द्रवित की गई, समाकृष्ट की गई (उप + स्नु + क्त कर्मणि टाप् स्त्रियाम्) । मेदिनी-पृथ्वी। 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही' इत्यमरः। मेद का अर्थ है-मास, मज्जा। अतएव मेदिनी का अर्थ है मासमज्जादि से युक्त-मेदः अस्ति अस्यामिति मेदिनी (मेद + इनिः मत्वर्थे, स्त्रियाम्) पौराणिक आख्यान के अनुसार विष्णु द्वारा मधु-कैटभ नामक दानवो का जब वध किया गया तो उनके अपार मेद-समूह से पृथ्वी आच्छन्न हो गई, फलतः इसे 'मेदिनी' कहा गया। मार्कण्डेय-पुराण मे द्रष्ट-

अनुवाद—महाबलशाली, स्वाभिमानी, धन से सम्मानित, रणभूमि मे यश प्राप्त करने वाले, (स्वार्थसिद्धि के लिए परस्पर) सगठित न होने वाले (तथा) अविरुद्ध व्यवहार वाले धनुर्धर सैनिक प्राणपण से सुयोधन का प्रिय सम्पन्न करने का आकाक्षा रखते हैं।

भावार्थ—शोभन तावत् सुयोधनस्य वीरभटानुकूल्यम्। राजन्! महाबल-शालिनः स्वाभिमानिन, पारितोषिकादिभिस्ततत सम्मानिताः, समरभूमिषु च अमोघ-पराक्रमाः सुयोधनसैनिका प्राणान् अपि सन्त्यज्य निजस्वामिनो मनोऽभिलषित सम्पादयितु समीहन्ते। न च ते क्वचिदपि स्वार्थसिद्ध्यर्थं मिथ. सङ्गता भवन्ति न च इतरेतरविरोधिन सञ्जायन्ते अन्यथा स्वामिकार्यविघातकतया राजद्रोहिण स्यु।

टिप्पणी—**महौजस**—महाबलाः अर्थात् महा ओजस्वी। ओजस् का अर्थ है बल—महत् ओज येषा ते महौजस (बहुव्रीहि)। **मानधनाः**—मान रूपी धन वाले, स्वाभिमानी। मान. कुलशीलाद्यभिमान एव धन येषा ते मानधनाः. बहुव्रीहि। **धनार्चिता**.—द्रव्यसत्कृताः अर्थात् धन से, पारितोषिकादि से अर्चित, सम्मानित। धनेन अर्चिता. इति धनार्चिताः (तृतीया तत्पु०)। **सयति**—सङ्ग्रामे। युद्ध मे। सम्+यम+क्विप् अधिकरणे=सयत् तस्याम् सयति। अमरकोश—'समुदाय स्त्रियः सयत्—समित्याजिसमिद्युध.। **लब्धकीर्तय**—बहुयशस अर्थात् यश प्राप्त करने वाले। लब्धा कीर्तिः यैस्ते लब्धकीर्तयः (बहुव्रीहि)। **नसहता**.—जो सहत या सगठित न हो। मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए ही सगठित होते हैं। यहाँ भी कुछ वैसा ही आशय है। अर्थात् स्वार्थसिद्धि के लिए सगठित न होने वाले। आचार्य मल्लिनाथ का व्याख्यान देखे-'सहता. मिथ सगताः, स्वार्थनिष्ठा न भवन्ति इति नसहता.'।सम्+हन्+क्तकर्त्तरि+जस्=सहता, न सहता इति नसहता (सुप्सुपा-समास) नभि-न्नवृत्तय -अर्थात् जिनकी वृत्ति या व्यवहार भिन्न न हो। कोई तीरघाट तो कोई मीरघाट, ऐसी वृत्ति न हो अन्यथा स्वामिकार्य मे विघात होगा। आचार्य मल्लिनाथ लिखते है-'मिथ विरोधात् स्वामिकार्यविघातकरा. न भवन्ति इति नभिन्नवृत्तय.' पूर्ववत्समास. (अर्थात् सुप्सुपा-समासः) भिन्ना वृत्ति. येषा ते भिन्नवृत्तयः (भिद् क्त कर्त्तरि+टाप् स्त्रियाम्। वृत्+क्तिन् भावे) बहुव्रीहि समासः। न भिन्नवृत्तय इति नभिन्नवृत्तय **धनुर्भृत**-धानुष्काः, धनुर्धर सैनिकगण। धनूषि बिभ्रति इति-धनुर्भृत (धनुस्+भृञ्+क्विप् कर्त्तरि, प्रथमा बहुवचन)। **असुभि**-प्राणैः अर्थात् प्राणो की बाजी लगा कर। 'असव. प्राणा.' इत्यमर। असु, प्राण, दार, अक्षत लाज आदि शब्द नित्य पुलिङ्ग बहुवचनान्त हैं। **तस्य**-उस सुयोधन का। प्रियाणि-मनोऽभिलषितानि, अभीष्ट कार्यों को। जो अपने को रुचे वही प्रिय है-प्रीणन्ति इति प्रियाणि (प्री+क

कर्त्तरि)। समीहितुं-कर्तुम्, सम्पन्न करने के लिए (सम् ईह्+तुमुन्) वाञ्छन्ति-इच्छन्ति। चाहते हैं।

प्रस्तुत पद्य मे काव्यलिङ्ग और परिकर—इन दो अलङ्कारो की तिलतण्डुलवत् ससृष्टि है। वाक्यार्थ रूप या पदार्थरूप हेतु के उल्लिखित होने पर 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार होता है—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते'। इस पद्य मे 'प्राण देकर भी प्रिय करना चाहते है' यह एक कार्य है (वाक्यार्थ रूप, जिसका कि कारण (उनका महाबली, मानधन, धनार्चित होना आदि) उल्लिखित है, बता दिया गया है। फलत यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार है। इसी प्रकार साभिप्राय विशेषणो के उक्त होने पर 'परिकर' अलङ्कार होता है-'उक्तै-विशेषणै साभिप्रायै परिकरो मतः।' प्रस्तुत पद्य मे समागत सभी विशेषण (महौजसः मानधना आदि) साभिप्राय है साथ ही साथ उक्त है, अत परिकरालङ्कार भी हुआ। साभिप्राय का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विशेषण कुछ 'सकेत' करता है जैसे 'महौजस' का शाब्दिक अर्थ तो हुआ 'महाबलशाली' किन्तु अभिप्राय कुछ और भी है—'महाबलशाली ही स्वामी का कल्याण साधने मे समर्थ है, निर्बल सैनिको से कुछ भी होने का नही।'

सम्प्रति स्वराष्ट्रवत्परराष्ट्रवृत्तान्तमपि वेत्तीत्याह :-

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः,
स वेद निःशेषमशेषितक्रियः।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः,
प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥२०॥

महीभृतामिति। अशेषितक्रियः समापितकृत्य। आलोदयकर्मेत्यर्थः। स दुर्योधन.। सच्चरितै शुद्धचरितै। अवञ्चकैरित्यर्थः। चरन्तीति चरास्तैश्चरै। प्रणिधिभि.। पचाद्यच्। महाभृता क्रियाः प्रारम्भान्नि शेष वेत्ति। 'विदो लटो वा' इति णलादेश स्वरहस्य तु न कश्चिद्वेदेत्याह—महोदयैरिति। धातुरिव तस्य दुर्योधनस्येहितमुद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभि। हितमनुबध्नन्त्यनुरुन्धन्तीति हितानुबन्धिभि. स्वन्तैरित्यर्थ। फलै कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते। फलानुमेयास्तस्य प्रारम्भा इत्यर्थः ॥२०॥

श्लोकान्वय—अशेषितक्रिय. स सच्चरितै चरै महाभृता क्रिया निःशेषम् वेद। धातुरिव तस्य ईहित महोदयै हितानुबन्धिभि फलै. प्रतीयते।

अनुवाद—कार्यों को समाप्त कर लेने वाला वह (सुयोधन) सच्चरित्र गुप्तचरो द्वारा (शत्रु) नरपतियो की गतिविधि को पूर्णरूप से जान लेता है। विधाता

भि ,-हित या कल्याण को बाँध लेन वाले अर्थात् शुभपरिणाम देने वाले । हित कल्याणम् अनुबध्नन्तीति हितानुबन्धीनि (हित + अनु + बन्ध + णिनि - कर्त्तरि ताच्छील्ये, उपपदतत्पुरुष) तै । फलै -कार्यसिद्धिभि. अर्थात् परिणामसिद्धियो द्वारा । प्रतीयते— ज्ञायते. जाना जाता है, प्रति + इ + लट्-त कर्मणि ।

मित्रबलमाह .—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः
कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम् ॥
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते,
नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम् ॥२१॥

नेति । तेन राज्ञा क्वाचत्कुत्रापि । सह ज्यया मौर्व्या सज्यम् । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुण ' इत्यमर । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहि । धनु॰ नोद्यत नोर्ध्वीकृतम् । आनन वा कोपविजिह्म कोपेन कुटिल न कृतम् । यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य युद्धप्रसक्तिरिति भावः । कथ तर्ह्याज्ञा कारयति राज्ञ इत्यत्राह—गुणेति । गुणेषु दयादाक्षिण्यादिष्वनुरागेण प्रेम्णा माल्यपक्षे सूत्रानुषङ्गेण । यद्वा सौरभ्यगुणलोभेन । नराधिपैरस्य शासनमाज्ञा । मालैव माल्य तदिव । 'चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्' इति क्षीरस्वामी । शिरोभिरुह्यते धार्यते । 'वचिस्वपियजादीना किति' इति यकि सम्प्रसारणम् । अत्रोपमा स्फुटैव ॥२१॥

श्लोकान्वय—न तेन क्वचित् सज्य धनुः उद्यतम् न वा आनन कोपविजिह्म कृतम् । गुणानुरागेण नराधिपै अस्य शासन माल्यमिव शिरोभि॰ उह्यते ।

अनुवाद—सुयोधन ने न तो कही प्रत्यञ्चाबद्ध धनुष् उठाया अथवा न ही मुखमण्डल को क्रोध के कारण विकृत किया । (उसके दयादाक्षिण्यादि) गुणानुरागवश नृपतिगण उसकी आज्ञा को माला के समान शिरोधार्य करते हैं ।

भावार्थ—राजन् ! पूर्वमेव मयोदित यत् सुयोधनधानुष्का. प्राणैरपि तस्य प्रिय कर्तुं समीहन्ते । पश्यन्तु तावद्भवन्त तस्य मित्रबलमपि । सुयोधनेन क्वचिदपि प्रत्यञ्चालग्न शरासन नार्ध्वीकृतम् । न च तेन औरस खेदमनुभूय कदापि स्वानन कोपकुटिल कृतम् । कापेक्षा वर्तते एषा व्यापाराणाम् ? सर्वमेव सिध्यति मित्रबलेनैव । यथा खलु पुष्पमाला शिरोभिरुह्यते नागरजनै॰ तथैव सुय धनस्य आज्ञा मित्रनृपतिभिः शिरोभिः धार्यते । न राजभयेन प्रत्युत तस्य दयादाक्षिण्यादिगुणानुरागेण । सुभगम्मन्योऽसौ सुयोधन ।

टिप्पणी—न तेन—न (तो) सुयोधन द्वारा । क्वचित्—कुत्रापि, कही भी । सज्य धनु.—प्रत्यञ्चा या डोरी चढा हुआ धनुष् । ज्या का तात्पर्य है धनुष् की डोरी—'ज्यया मौर्व्या सह इति सज्यम्' (बहुव्रीहिः) तृतीयान्त शब्द के साथ तुल्ययोग होने पर 'सह' का बहुव्रीहि-समास होता है । सूत्र है—'तेन सहेति तुल्ययोगे ।' इस नियम से 'सज्यम्' मे बहुव्रीहि समास हुग्रा । समस्तपद मे 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो गया है–'वोपसर्जनस्य' नियम से । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुण.' इत्यमरः । सज्य 'धनुः' का विशेषण है–'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमर. । उद्यतम्—ऊर्ध्वीकृतम् उत्तोलितम् अर्थात् उठाया गया । उद् + यम् + क्त कर्मणि । न वा—अथवा न ही । ग्राननम्—वदनम्, मुख को । 'वक्त्रास्ये वदन तुण्डमानन लपन मुखम्' इत्यमर. । कोपविजिह्मम्—कोपेन कुटिलम् अर्थात् क्रोधवश विकृत । जिह्म का अर्थ है कुटिल (जिह्मस्तु कुटिल मन्दे–इतिकोशः) कोपेन (कुप् घञ्भावे + टा) विजिह्मम् (विशेषेण जिह्म = विजिह्मम् प्रादितत्पुरुष) इति कोपविजिह्मम् (तृतीया तत्पु०) । कृतम्—किया गया । गुणानुरागेण – दयादाक्षिण्यादिप्रेम्णा । सुयोधन के गुणो के प्रति अनुरागभाव होने के कारण । गुणेषु अनुराग. इति गुणानुराग तेन, हेतौ तृतीया (सप्तमी तत्पु०) । माला के पक्ष मे गुणानुराग का तात्पर्य होगा–गुण अर्थात् सूत्र मे अनुषङ्ग (प्रवेश) होने के कारण अथवा सौरभ्यगुण के अनुराग (लोभ) वश । नराधिपै·—भूपालैः राजाओं द्वारा । अस्य शासनम्--सुयोधनस्य आज्ञा । शासन (शास्+ल्युट् भावे) का अर्थ है आज्ञा, नियोग । सुयोधन की आज्ञा । माल्यमिव-मालेव माला की भाँति । माला एव माल्यम् (माला+ष्यञ् स्वार्थे) जैसे चातुर्वर्ण्य शब्द 'चतुर्वर्ण' के ही अर्थ मे ष्यञ् प्रत्यय से निष्पन्न होता है, ठीक वैसे ही 'माल्यम्' मे भी ष्यञ प्रत्यय स्वार्थ मे है-'चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्' । शिरोभिरुह्यते-शीर्षै धार्यते । अर्थात् सिर-माथे लगाई जाती है (वह + लट् = त कर्मणि) ।

'माल्यम् इव' अश मे 'इव' साधर्म्य (साम्य) प्रस्तुत करता है—माल्य तथा शासन के बीच । अतएव प्रस्तुत पद्य मे उपमालङ्कार मान्य है—'साधर्म्यम उपमाभेदे ।'

सम्प्रति अस्य धार्मिकत्वमाह —

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धत

निधाय दुःशासनमिद्धशासनः ।

मखे व खिन्नोऽनुमतः पुरोधसा
धिनो.ति हव्येन हिरण्यरेतसम् ।।२२।

म इति । इद्धशासनोऽप्रतिहताज्ञ. स दुर्योधनो नवयौवनोद्धत प्रगल्भम् । धुरन्धरमित्यर्थ' । दु खेन शास्यत इति दु शासनस्तम् 'भाषाया शासियुधि'--इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्यय: । यौवराज्ये युवराजकर्मणि । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् । निधाय । नियुज्येत्यर्थ' । पुरोधसा पुरोहितेनानुमतोऽनुज्ञात' । तस्मिन्याजके सतीत्यर्थ' । तदुल्लङ्घने दोषस्मरणादिति भाव: । 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्त । न तु 'मतिबुद्धि' इत्यादिना वर्तमानार्थे । अन्यथा 'पुरोधसा' इत्यत्र 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी स्यात् । अखिन्नोऽनलसो मखेषु क्रतुषु हव्येन हविषा । हिरण्य रेतो यस्य त हिरण्यरेतसमनल धिनोति प्रीणयति । धिन्वे प्रीणनार्थाद् 'धिन्वकृण्व्योर च' इत्युप्रत्यय. । अकारश्चान्तादेश ।।२२।।

श्लोकान्वय--इद्धशासन. स नवयौवनोद्धतम् दु शासन यौवराज्ये निधाय पुरोधसा अनुमत' अखिन्न: मखेषु हव्येन हिरण्यरेतसम् धिनोति ।

अनुवाद—अप्रतिहत आज्ञा वाला वह सुयोधन, नई अवस्था के कारण उद्दण्ड दुश्शासन को युवराजपद पर अभिषिक्त करके (स्वय) पुरोहित से अनुमति प्राप्त करके, अश्रान्तभाव से यज्ञो मे हवि सामग्री द्वारा अग्निदेव को प्रसन्न करता है ।

भावार्थ—न खलु जनपदक्षेमकरत्वम् आत्मोन्नयनमेव वा सुयोधनस्य अभीष्टम् । धार्मिकत्वमपि तस्य प्रख्यातम् । नाममात्रेणैव राज्यकार्यं तेन क्रियते । वस्तुतस्तु अभिनवयौवनेन प्रगल्भस्वभाव स्वानुज दुश्शासनमेव युवराजकर्मणि सस्थाप्य सुयोधन. स्वयमेव परलोकसिद्धि भजते । पुरोहितेन अनुमोदनमवाप्य स' अविश्रान्त: सन् निरन्तरमेव यज्ञयागादिषु हव्यप्रदानेन भगवन्त हिरण्यरेतसम् अनुकूलयति ।

टिप्पणी—इद्धशासन —अप्रतिहताज्ञ. । अनुल्लघनीय शासन या आज्ञा वाला । 'शासन' का अर्थ है आज्ञा । शिष्यते इति शासनम् (शास्+ल्युट् भावे), इद्ध (इन्ध्+क्त कर्तरि) शासनं यस्य स: इद्धशासन: (बहुव्रीहि) । स. —वह (सुयोधन) । नवयौवनोद्धतम्—युवावस्थयातिप्रगल्भम् । अर्थात् नव-यौवन के कारण उद्दण्ड या उद्धत (को) । यूनो भाव यौवनम् (युवन्+अण्), नव यौवनम् इति नवयौवनम् (कर्मधारय स०), तेन उद्धत: (उद्+हन्+क्त कर्मणि, तृतीया तत्पु०), तम् । दुःशासनम् —दु शासन को, अपने अनुज को (दुर्+शास्+युच् कर्मणि, द्वितीया एकवचन) । यौवराज्ये—युवराजकर्मणि, अर्थात् युवराज के कर्तव्य मे, युवराज पद पर । युवराज का अर्थ है युवक राजा और उसका कर्म यौवराज्य है—युवा चासौ राजा चेति युवराज (कर्मधारय स०) । तस्य कर्म यौवराज्यम्

(युवराज + ष्यञ् कर्मणि), तस्मिन् । युवराज शब्द ब्राह्मणादि गण मे पठित है, अत ष्यञ् प्रत्यय यहाँ गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च' सूत्र से प्रयुक्त हुआ है। निधाय—नियुज्य, नियुक्त करक (नि + धा ल्यप्) । पुरोधसा—पुरोहित द्वारा। धार्मिक कार्यों मे अग्रेसर अथवा पुरोगामी जो हो वही पुरोधा या पुरोहित है—पुर धत्ते धीयते वा इति पुरोधा. (पुरस् + धा + असि कर्त्तरि कर्मणि वा) तेन पुरोधसा। 'पुरोधास्तु पुरोहित' इत्यमरः (अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया)। अनुमत - अनुज्ञात, अर्थात् अनुमोदित होकर, समर्थित होकर (अनु + मन् क्त कर्मणि)। अखिन्नः—अनलस, आलस्य अथवा श्रान्ति-विहीन होकर, अर्थात् सोत्साह। न खिन्नः (खिद् + क्त कर्त्तरि) इति अखिन्नः (नञ् तत्पु०)। मखेषु--क्रतुषु, यज्ञो मे। अमरकोषे—'यज्ञ सवोऽध्वरो याग सप्ततन्तुर्मख क्रतु.'। हव्यन--हविषा, पुरोडाशादि हवन सामग्री द्वारा। जिसका अग्नि मे हवन (दान) किया जाय वही हव्य है--हूयते भक्ष्यत्वेन दीयते इति हव्यम (हु + यत् कर्मणि), तेन। करणे तृतीया। हिरण्यरेतसम् —अनलम्। अग्निदेव को। हिरण्य अथवा स्वर्ण ही जिसका रेतस् हो वह। हिरण्य रेतो यस्य स. हिरण्यरेता, (बहु०) तम् अग्निम्। 'हिरण्यरेता हुतभुग्दहनो हव्यवाहन' इत्यमर। धिनोति—प्रीणयति। प्रसन्न करता है (धिवि = धिन्व + लट् प्रथमपुरुष एकवचन)

धकार, शकार एव हकार की आवृत्तिवश अनुप्रास अलङ्कार द्रष्टव्य है। 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' आदि लक्षण।

स चेत् तादृश. उद्योगो तर्हि अस्माभिर्निरुद्योगैर्भाव्यमित्याशङ्क्य उद्योगाशा दर्शयति :—

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति,
प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यती-
रहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥२३॥

प्रलीनेति। स दुर्योधनः प्रलीनभूपालम् नि.सपत्नमित्यर्थ। स्थिरायति चिर स्थायीत्यर्थ.। भुवो मण्डलम् आवारिधेभ्य आवारिधि 'आङ् मर्यादाभिविध्यो इत्यव्ययीभाव। प्रशासदाज्ञापयन्नपि। 'जक्षित्यादय षट्' इत्यभ्यस्तसज्ञा। 'नाभ्य स्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेध। त्वत्त एष्यन्तीरागमिष्यतीः। धातूनामनेकार्थत्वादुक्तार्थसिद्धि.। अथवाङ्पूर्व. पाठ। 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धि.। 'लृट. सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। 'उगितश्च' इति ङीप्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभाव·

भियो भयहेतून् । विपद इत्यर्थः । चिन्तयत्यालोचयत्येव । स एवाह—अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता दुष्टावसाना । सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सपत्नैः सह वैरायमाणत्वमनर्थपर्यवसाय्येवेति तात्पर्यम् । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।।२३।।

श्लोकान्वय—स प्रलीनभूपालं स्थिरायति भुवो मण्डलम् आवारिधि प्रशासत् अपि त्वदेष्यतः भियः चिन्तयत्येव । अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता ।

अनुवाद—शत्रु-विहीन, सुस्थिर भविष्यवाले, भूमण्डल को समुद्रपर्यन्त प्रशासित करता हुआ भी सुयोधन, आपकी ओर से आने वाली विपत्तियों को गुनता ही रहता है । हन्त ! बलवान् के साथ किया गया वैर-विरोध अनर्थपर्यवसायी होता है ।

भावार्थ—किन्न समवाप्तं सुयोधनेन ! निखिलमेव शत्रुनृपतिमण्डलं विनाशमुपगमितम् । भविष्यमपि साम्राज्यस्य अक्षुण्णं कृतम् । आसमुद्रं भूचक्रं स्वपौरुषेण स्वायत्तीकृतम् । किन्तु सञ्जातेऽपि ईदृक्सुखजलदवर्षणे न सुखमनुभूयते वराकेण तेन । राजन् ! भवत्सकाशात् आगमिष्यतीः विपदः स चिन्तयत्येव । 'न जाने कदा पाण्डवाः प्रसह्य रणस्थले साम्राज्यमिदं ग्रहीष्यन्ति' इत्यनया चिन्तयाऽनिशमेव दन्दह्यते तच्चेतः । प्रबलैः सपत्नैः सह वैरायमाणत्वम् अनर्थकारकमेव भवतीति महच्चित्रम् ।

टिप्पणी—स—दुर्योधन । प्रलीनभूपालम्—निःसपत्नम् । शत्रुरहित । प्रलीन हो गए हों, उच्छिन्न हो गए हों नृपतिगण जिसमें ऐसे भूमण्डल को—प्रलीनाः (प्र+ली+क्त कर्त्तरि) विनष्टाः भूपालाः (भुवं पालयन्ति इति भूपालाः, भू+पाल+णिच्+अण् कर्त्तरि) यस्मिन् तत् (बहुव्रीहिसमासः) । स्थिरायति-चिरस्थायि । स्थिर हो आयति (भविष्य) जिसकी—स्थिरा आयतिः यस्य तत् (बहुव्रीहिः) कुछ हिन्दी व्याख्याकारों ने 'स्थिरायति' को क्रियाविशेषण मानकर 'प्रशासत्' के साथ संयुक्त करने का सुझाव प्रस्तुत किया है जब कि आचार्य मल्लिनाथ इसे 'भुवोमण्डलम्' का विशेषण मानते हैं । वस्तुतः आचार्य का मत ही तर्कसंगत एवं ग्राह्य है क्योंकि—'पाण्डव जैसे प्रबल शत्रुओं के कारण दुर्योधन के साम्राज्य का भविष्य वास्तव में स्थिर नहीं है ।' फिर भी अपने विश्वस्त गुप्तचरों, मित्रों, सैनिकों एवं दया-दाक्षिण्यादि गुणों के कारण सुयोधन ने साम्राज्य का भविष्य यथाकथञ्चित् स्थिर बना ही लिया है । ऐसे ही 'स्थिरायति भुवोमण्डलम्' की बात आचार्य मल्लिनाथ करते हैं । अतः व्याख्याकारों का यह कथन सार्थक नहीं प्रतीत होता-'दुर्योधन राज्य करेगा तब भी भूमण्डल कल्पान्त तक स्थिर रहेगा, न राज्य करेगा तब भी आदि ।' कल्पान्तस्थायी साम्राज्य का प्रश्न कहाँ उठता है ? यहाँ तो कवि 'दुरोदरच्छद्मजितं साम्राज्यम्' की बात कर रहा है । भुवोमण्डलम्—

पृथिव्याश्चक्रम्, पृथ्वीमण्डल को। आवारिधि–आसमुद्रम्। समुद्रपर्यन्त, जो जलराशि का निधान हो वह 'वारिधि' है, आङ् मर्यादा सूचित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है— वारि धीयते अस्मिन् इति वारिधिः (वारि+धा+कि अधिकरणे) वारिधेः आ इति आवारिधि (अव्ययीभावसमास) यहाँ 'आङ्' 'मर्यादायाम्' है। प्रशासत् अपि— आज्ञापयन्नपि, प्रकृष्ट रूप से शासन करता हुआ भी (प्र+शास्+शतृ, प्रथमैकवचन)। अपि का अर्थ है 'भी'। त्वदेष्यती —त्वत्त आगमिष्यती, आगामिनी इति यावत् तुम्हारी ओर से आने वाली को ('भिय. का विशेषण) त्वत् (युष्मत् शब्द, पञ्चमी एकवचन) एष्यतीः (आ+इ+लृट्–स्यतृ, स्त्रियाम् द्वितीया बहुवचन) इति त्वदेष्यती', सुप्सुपासमास.। एष्यती' के निर्वचन मे आ उपसर्ग को स्वीकार करने से 'त्वदैष्यती:' पाठ स्वीकार करना होगा जैसा कि आचार्य मल्लिनाथ ने भी निर्देश किया है। वस्तुतः यही तर्कसगत भी प्रतीत होता है। अन्यथा 'एष्यती' का अर्थ 'आनेवाली' के बजाय 'जानेवाली' ही होगा। हाँ धातुओ को अनेकार्थक मान कर भले ही हम आगमनपरक अर्थ निकाल ले। भिय.—भयहेतून्, भय के कारणो को अथवा विपत्तियो को। चिन्तयत्येव-आलोचयत्येव। सोचता ही है। 'एव' का अर्थ यह है कि बेचारा सुयोधन पाण्डवभय को भूलने की लाख चेष्टा करता है परन्तु करे क्या ? बाध्य होकर उसे सोचना ही पडता है, क्योकि 'बलवद्विरोध' है न। अहो -आश्चर्य है (अव्ययपद)। बलवद्विरोधिता--बलवान् के साथ किया गया विरोधभाव। जिसके पास बल या शक्ति हो वह बलवान् है--बलम् अस्ति अस्य इति बलवान् (बल+मतुप्+सु) जो विरोध करे वह 'विरोधी' है-विरुणद्धि इति विरोधी (वि+रुध्+णिनि कर्त्तरि) तस्य भाव विरोधिता (विरोधिन्+तल् स्त्रियां, टाप्) बलवता विरोधिता इति बलवद्विरोधिता (सुप्सुपा)। दुरन्ता--दुष्टावसाना अर्थात् अनर्थपर्यवसायिनी। जिसका अन्त दुष्ट या दु:खद हो उसे 'दुरन्ता' कहेंगे--दुष्ट. अन्तः यस्याः सा (बहु०)।

श्लोक की अन्तिम पक्ति एक सामान्यकथन है जिसमे एक विशेष तथ्य 'स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीः' का समर्थन किया गया है फलत अर्थान्तरन्यास अलकार है।

ननु गूढाकारेङ्गितस्य तस्य भय त्वया कथ निरधारि :—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृता-
दनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद्व्यथते नताननः
स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥२४॥

कथेति । कथाप्रसङ्गेन गोष्ठीवचनेन जनै:, तत्रस्थैरित्यर्थ । अन्यत्र कथाप्रसङ्गेन विषवैद्येन ।'कथाप्रसङ्गो वार्ताया विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' इति विश्व. । एकवचनस्यातन्त्रत्वाज्जनविशेषणम् । उदाहृतादुच्चारितात्तवाभिधानान्नामधेयात्स्मारकाद्धेतो: । हेतौ' इति पञ्चमी । 'आख्याह्वे अभिधान च नामधेय च नाम च' इत्यमर । अन्यत्र तवाभिधानात् । 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' इति न्यायात् तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी तयोरभिधान यस्मिन्पदे तस्मात् । यद्वा; कथाप्रसङ्ग इनाश्च ते जनाश्चेत्येक पदम् । अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रम: स्मृतार्जुनपराक्रम: सन् दु सहात् मन्त्रपदान्मन्त्रशब्दात्स्मारकाद्धेता. । आखण्डलसूनुरिन्द्रानुज: । उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत् । 'सूनु: पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्व । तस्य वि पक्षी । गरुड इत्यर्थ: । तस्य क्रम पादविक्षेप । सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्त: स्मृतगरुडमहिमा । उरग इव नतानन सन् । व्यथते दु:खायते । 'पीडा बाधा व्यथा दु खम्' इत्यमर: । अत्युत्कटभयदोषादिविकारा दुर्वारा इति भाव. । 'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इति न्यायादर्जुनोत्कर्षकथन युधिष्ठिरस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम् ॥ २४ ॥

श्लोकान्वय-कथाप्रसङ्गेन जनै उदाहृतात् तव अभिधानात् अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रम स: दु सहात् मन्त्रपदात् उरग इव नतानन: व्यथते ।

अनुवाद-श्रेष्ठविषवैद्यो द्वारा उच्चारित किये गए, गरुड एव वासुकि के नामों से युक्त, अत्यन्त दुस्सह मत्रपदो द्वारा (पक्षिराज) गरुड के माहात्म्य का स्मरण करके अधोमुख हो जाने वाले विषधर की (ही) भाँति वार्तालाप के प्रसग मे तत्रोपस्थित जनो द्वारा उच्चारित तुम्हारे (युधिष्ठिर) नाम से, इन्द्रपुत्र अर्जुन के पराक्रम का अनुस्मरण करके वह सुयोधन अधोमुख होकर व्यथित हो जाता है ।

भावार्थ— राजन् ! यथा खलु कोऽपि विषधर: पक्षिराजगरुडस्य सर्पराजवासुकेश्च नामधेयैस्सयुत विषवैद्येन च विषोपचाराय समुच्चारित मत्रपदमनुश्रूय वैनतेयमाहात्म्यमनुस्मृत्य भूयोभूय: अधोमुखस्सन् विकलीभवति तथैव हस्तिनापुरे साम्प्रतम् वार्तालापप्रसङ्गे तत्रस्थै: जनै यथाकथञ्चित् 'युधिष्ठिर' इत्युच्चारणादेव अनुजसम्बन्धेन महाधनुर्धरस्य पार्थस्य अमोघपराक्रम स्मार-स्मार वराक सुयोधन: अधोमुखीभूय नितरा क्लेशमावहति इति यन्मया प्रत्यक्षीकृत तन्निवेद्यते ।

टिप्पणी—यह सम्पूर्ण पद्य दो अर्थ देने वाला है । एक तो दुर्योधन-विषयक और दूसरा सर्प-विषयक । पहला अर्थ प्रासङ्गिक या उपमेयार्थ है और दूसरा अप्रासङ्गिक या उपमानार्थ । प्रत्येक शब्द के दोनो अर्थ क्रमश: दिये जा रहे हैं—कथाप्रसङ्गेन जनै.—दुर्योधन के पक्ष मे—कथाप्रसङ्गेन वार्तालापक्रमेण

जने तत्रस्थै पुरुषै', अर्थात् बातचीत के प्रसङ्गवश वहाँ पर उपस्थित लोगो द्वारा। कथाया: प्रसङ्ग इति कथाप्रसङ्ग [षष्ठी तत्पु०] तेन । सर्प के पक्ष मे-विषवैद्यश्रेष्ठ-जनै. । कथाप्रसङ्ग का अर्थ है झाडफूक करके विषोपचार करने वाला विषवैद्य। विश्वकोष का प्रमाण द्रष्टव्य-'कथाप्रसङ्गो वार्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' । 'इन.' का अर्थ होता है श्रेष्ठ । इस प्रकार–इना. श्रेष्ठा. जना. इति इनजना [कर्मधारय]। कथाप्रसङ्गेषु विषवैद्येषु इनजना: इति कथाप्रसङ्गेनजना: [सुप्सुपा] तै । अर्थात् श्रेष्ठ विषवैद्यो द्वारा । आचार्य मल्लिनाथ 'कथाप्रसङ्गेन' को 'जनै.' का विशेषण भी मानते हैं जो कि खटकता है । क्यो कि विशेषण तृतीया एकवचन मे और विशेष्य तृतीया बहुवचन मे है । वस्तुत विशेषण-विशेष्य मे लिङ्ग, वचन एव विभक्ति की पूर्णसमता होनी चाहिये । वैयाकरणो का मत है-–'यल्लिङ्ग यद्वचन या च विभक्ति: विशेष्यस्य--तल्लिङ्ग तद्वचन सैव विभक्ति विशेषणस्यापि ।' इस प्रकार मूल पाठ दो ही स्थितियो मे ठीक होगा । या तो--'कथाप्रसङ्गेन जनेन' हो या फिर 'कथाप्रङ्गै जनै ' । परन्तु भारविप्रदत्त पाठ मे तनिक भी परिवर्तन करने से अभीष्ट दो अर्थ आयेगे ही नही । ऐसी स्थिति मे आचार्य मल्लिनाथ 'एकवचनस्य अतन्त्रत्वात् जनविशेषणम्' कह कर 'कथाप्रसङ्गेन-जनै ' के वचनभेद का औचित्य मान लेते हैं। परन्तु यह सब झझट उठे ही क्यो यदि हम पूरे शब्द को एक समस्तपद मान ले जैसा कि ऊपर व्याख्यात है । उदाहृतात्--उच्चारितात् अर्थात् उच्चारित किये गए। (उत्+आ+हृ+क्त कर्मणि, पञ्चमी एकवचन) दोनो पक्षो मे समान अर्थ देता है। तवाभिधानात् दुर्योधनपक्ष मे-तव युधिष्ठिरस्य अभिधानात् नामधेयात् अर्थात् आपके ['युधिष्ठर' इस] नाम से । अभिधान का अर्थ है नाम--अभिधीयते अनेन इति अभिधानम् [अभि+धा+ल्युट् करणे] तस्मात् । हेत्वर्थे पञ्चमी । 'आख्याह्वेऽभिधानञ्च नामधेयञ्च नाम च ।' इत्यमर: । सर्पपक्ष मे–त का अर्थ है तार्क्ष्य या गरुड और व का अर्थ है वासुकि । 'नाम के एक भाग का उच्चारण करने से पूरे नाम का ग्रहण हो जाता है' यह एक मान्यता [न्याय] है । जैसे बजाय 'देवदत्त' कह कर बुलाने के केवल 'दत्त' कह कर ही बुलाया जाय, कोई अन्तर नही है दोनो मे । ठीक इसी प्रकार 'त और व' कह देने से तार्क्ष्य और वासुकि--इन दोनो नामो का साकल्येन बोध हो जाता है । इस प्रकार, तार्क्ष्य एव वासुकि का अभिधान जिसमे हो उस मत्रपद को 'तवाभिधान' कहेगे [मत्रपदात् का विशेषण] । मल्लिनाथ की व्याख्या देखे-अन्यत्र तवाभिधानात् । 'नामैकदेशग्रहण नाममात्रग्रहणम्' इति न्यायात् तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी । तयो: अभिधान यस्मिन्पदे, तस्मात् [बहुव्रीहि) । अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रम·-दुर्योधन पक्ष में--स्मृतार्जुनपराक्रम. अर्थात् अनुस्मृत कर लिया गया है आखण्डल (=इन्द्र) के सूनु(=पुत्र अर्जुन) का पराक्रम जिसके द्वारा, ऐसा दुर्योधन । अनुस्मृत: (अनु+स्मृ+क्त कर्मणि) आखण्डलसूनो· (षष्ठी तत्पु०) विमक्र.

(वि+क्रम+घञ् भावे) येन स., सुयोधनः (बहुव्रीहिसमासः)। 'आखण्डल' इन्द्र का नाम है। अमरकोष देखे—'आखण्डलः सहस्राक्ष. ऋभुक्षा.' इत्यमर। 'सूनु' का अर्थ 'पुत्र और भाई' दोनो होता है, किन्तु यहाँ इसका अर्थ है 'पुत्र'। 'सूनु पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्वकोश। सर्पपक्ष मे—अनुस्मृत कर लिया गया है आखण्डल (=इन्द्र) के सूनु (=अनुज वामन अथवा नारायण) के 'वि' अर्थात् पक्षी [=वाहनभूत पक्षिराज गरुड] का क्रम अर्थात् पादविक्षेप जिसके द्वारा ऐसा सर्प। आखण्डलस्य सूनु अनुजः (नारायणः), तस्य विः पक्षी गरुड., तस्य क्रम पादन्यास इति आखण्डलसूनुविक्रमः। शेष व्याख्या बहुव्रीहि-परक ऊपर देखे। सः-वह सुयोधन। दु सहात्—असह्यात्। सहा न जा सकने योग्य मत्रपद द्वारा। दु खेन सह्यते इति दु.सह. (दु+सह्+खल् कर्मणि,) तस्मात्। कही-कही 'सुदु.सहात्' पाठ भी स्वीकार किया गया है। मत्रपदात्—मंत्रशब्दात्, मत्रगत शब्दो से। मत्रस्य पदम् इति मत्रपदम् तस्मात् षष्ठी तत्पु०, हेतौ पञ्चमी। उरग. इव—सर्प की भाँति। जो पेट के बल चले वह 'उरग' है—उरसा गच्छति इति (उरग· उरस्+गम्+ड कर्त्तरि)। यहाँ 'उरस्' का स् 'उरसो लोपश्च' सूत्र से लुप्त हो गया है। नताननः—अधोमुखः सन्, नत है आनन जिसका अर्थात् अधोमुख। नतम् (नम्+क्त कर्त्तरि) आनन यस्य स· बहुव्रीहिः। व्यथते—दु खायते अर्थात् व्यथित होता है।

प्रस्तुत पद्य मे श्लेष से अनुप्राणित पूर्णोपमा अलङ्कार है। उपमा के चार अङ्ग हैं—उपमेय, उपमान, वाचकशब्द और साधारणधर्म। जहाँ ये चारो अङ्ग समवायतः प्राप्त हो वही पूर्णोपमा होती है। इस श्लोक मे 'स' (दुर्योधन) 'उपमेय' 'उरग' उपमान, 'इव' वाचकशब्द तथा 'नताननः व्यथते' आदि साधारणधर्म हैं, फलतः पूर्णोपमा है। लक्षण—'सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च—उपमेयञ्चोपमानञ्च भवेद्वाच्यम्।' इति।

निगमयति—

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते
विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां
प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः ॥२५॥

तदिति। तत्तस्मात्त्वयि जिह्मं कपट कर्तुमुद्यते। त्वा जिघांसावित्यर्थ। तत्र तस्मिन्दुर्योधने विधेयं कर्त्तव्यमुत्तर प्रतिक्रियाऽऽशु विधीयता क्रियताम्। ननु कर्त्तव्य-

मपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह्–परेति । परप्रणीतानि परोक्तानि वचांसि चिन्वता गवेषयतां मादृशाम्, वार्ताहारिणामित्यर्थः । गिर. प्रवृत्तिसारा वार्तामात्रसाराः खलु । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । वार्तामात्रवादिनो वयम्, न तु कर्त्तव्यार्थोपदेशसमर्थाः । अतस्त्वयैव निर्धार्य कार्यमिति भाव. । सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यास· ॥२५॥

श्लोकान्वय––तत् त्वयि जिह्म कर्तुम् उद्यते तत्र विधेयम् उत्तरम् आशु विधीयताम् । परप्रणीतानि विचांसि चिन्वता मादृशा गिर प्रवृत्तिसारा. खलु ।

अनुवाद––अतएव आपके प्रति कपटाचरण करने के लिए समुद्यत, उस सुयोधन के प्रति करणीय प्रतिक्रिया का विधान (आप द्वारा भी) शीघ्र किया जाय । दूसरो द्वारा कही गई बातो का सग्रह करने वाले मुझ जैसे वार्ताहरो की बाते निश्चय ही केवल वार्तातत्त्व वाली होती हैं [अर्थात् हम सन्देशमात्र दे सकते हैं, कर्तव्योपदेश नही] ।

भावार्थ--राजन् ! एव हि निश्चप्रचमिदं यत् कुटिलोऽसौ सुयोधनस्त्वयि कपटमाचरितुं बद्धपरिकरो वर्तते । अतएव तद्विषयेऽपि यत्किञ्चित् समुचितम् उत्तरं भवता विचार्यते तदाशु विधीयताम् । एव ब्रुवाणाः अपि वय न कर्त्तव्यार्थोपदेशसमर्थाः अपरैः जनैः समुदितानि वचनानि सङ्कलयताम् अस्मादृशा वार्ताहराणा गिरः सन्देशमात्रमावेदयितु समर्थाः सन्ति न पुनः कर्त्तव्य निर्देष्टुम् ।

टिप्पणी-तत्-तस्मात्, अस्माद्धेतो अर्थात् इसलिए । त्वयि जिह्मं कर्तुम् उद्यते- त्वां जिघांसौ । आपके प्रति कपट का आचरण करने को उद्यत (उद् +यम् क्त कर्त्तरि, सप्तमी एकवचन) । तत्र-तस्मिन् दुर्योधने, उस दुर्योधन के विषय मे (तत् + ङि + त्रल् स्वार्थे, विषयाधिकरणे सप्तमी) । अव्यय पद होने के कारण विभक्ति का लोप हो गया है । विधेयम् -कर्त्तव्यम्, करने योग्य । विधातु योग्यम् इति विधेयम् (वि + धा + यत् कर्मणि) । उत्तरम् -प्रतिक्रिया, उत्तर या प्रतिकार । अतिशयेन उत् इति उत्तरम् (उत् + तरप्) उक्ते कर्मणि प्रथमा । आशु-शीघ्रता पूर्वक । 'सत्वर चपल तूर्णमविलम्बितमाशु च' इत्यमर, । विधीयताम्-क्रियताम् , किया जाय (वि+धा लोट् प्रथमपुरुष, एकवचन, कर्मणि) । परप्रणीतानि-परोक्तानि, दूसरो द्वारा कही गई । परैः प्रणीतानि (प्र + नी+ क्त कर्मणि) इति परप्रणीतानि । (तृतीयातत्पु०) । वचांसि—वचनानि, बातो को । चिन्वताम्-गवेषयताम् , सग्रह करने वालो का (चि + शतृ + षष्ठी बहुवचन) । यद्यपि चि द्विकर्मकधातु है, तथापि प्रस्तुत पद्य मे उसका एक ही कर्म है । मादृशाम् —वार्ता-

हारिणामित्यर्थ । मुझ जैसे सदेशवाहको का (अस्मद् + दृश् + क्विन् कर्मकर्त्तरि, षष्ठी बहुवचन) । 'यदि दृश् धातु का देखना अर्थ न हो तो त्यदादि उपपद होने पर उसमे कञ् और क्विन् प्रत्यय होते है, (त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च), इस नियम से 'अस्मद्' शब्द के उपपद रहने पर 'दृश' धातु से क्विन् प्रत्यय हुआ। यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि अस्मद् शब्द त्यदादिगण में आने वाला सर्वनाम है और दृश् धातु का उपपद है, साथ ही साथ 'दृश्' धातु का अर्थ यहाँ 'देखना' नही है वरन् वह साम्य के अर्थ मे प्रयुक्त है । दूसरा नियम है –एकवचनार्थक अस्मद् एव युष्मद् शब्द को मपर्यन्त क्रमशः म और त्व आदेश होता है, यदि उत्तर पद में प्रत्यय हो तो (प्रत्ययोत्तरपदयोश्च) इस नियम से उत्तरपद मे क्विन् प्रत्यय रहने के कारण 'अस्मद्' के अस्म तक को म आदेश हो गया । रूप बना मद् + दृश् + क्विन् । तीसरानियम है-सर्वनाम को आकार अन्तादेश होता है यदि दृक् दृश् या वतु परे रहे (आ सर्वनाम्नः) तब रूप बना-माद् + दृश् + क्विन् = मादृक्, षष्ठी बहुवचन मे मादृशाम् । गिरः-वाचः, बातें । गीर्यते इति गीः (गृ + क्विप् कर्मणि, बहुवचने) । प्रवृत्तिसाराः-वार्त्तामात्रसाराः, अर्थात् वृत्तान्तवर्णन-मात्र जिसका तत्त्व हो, ऐसी । प्रवृत्तिः (प्र + वृत् + क्तिन् भावे) सारो (सृ + घञ् भावे) यासा ताः प्रवृत्तिसाराः (बहुव्रीहि.) 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमर । खलु-निश्चय ही । खलु अव्ययपद साथ ही साथ अनेकार्थक है-'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः ।

प्रस्तुत पद्य मे उत्तरार्ध के सामान्य कथन से पूर्वार्धगत एक विशेष कथन का समर्थन किया गया है । फलतः सामान्य से विशेष समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये,
गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम् ।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा,
तदाचचक्षेऽनुजसन्निधौ वचः ॥२६॥

इतीति—वनसन्निवासिना पत्यौ वनेचराधिप इति गिर ईरयित्वोक्त्वाऽऽत्तसत्क्रिये गृहीतपारितोषिके गते याते सति । 'तुष्टिदानमेव चाराणा हि वेतनम् । ते हि तल्लोभात्स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते' इति नीतिवाक्यामृते । अथ महीभुजा राज्ञा कृष्णासदन द्रौपदीभवन प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद्वनेचरोक्त वचो वाक्यमाचचक्ष

आख्यातम् । अथवा कृष्णेति पदच्छेदः । सदन प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वचः कृष्णाऽऽच-चक्ष आख्यातम् । चक्षिङो दुहादेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लिट् ॥२६॥

श्लोकान्वय–वनसन्निवासिना पत्यौ इति गिरम् ईरयित्वा आत्तसत्क्रिये गते अथ महीभुजा कृष्णासदन प्रविश्य अनुजसन्निधौ तद् वचः आचचक्षे ।

अनुवाद-इस प्रकार वार्ता निवेदन करके एव पारितोषिक लेकर वनचरराज के चले जाने पर राजा युधिष्ठिर द्वारा, द्रौपदीभवन मे प्रवेश करके भाइयो के समीप वह वृत्तान्त वर्णित किया गया ।

भावार्थ--एव हि यावच्छक्यानि सुयोधनविषयकाणि वृत्तान्तसूत्राणि विनिवेद्य तदर्थञ्च महाराजेन युधिष्ठिरेण प्रभूत पारितोषिक समवाप्य यदा वनेचराधिपो निजा-लय प्रतस्थे तदा धर्मराजोऽपि राजमहिष्याः भवन प्रविश्य भीमादिभ्रातृणा समीप एव तत्सर्वं किरातोक्त वृत्तान्त पुनराख्यातवान् ।

टिप्पणी–वनसन्निवासिना पत्यौ-वनेचराधिपे, अर्थात् वनचरराज के । वने सन्निवसन्ति इति वनसन्निवासिन (वन + सम् - नि + वस् + णिनि कर्त्तरि जस्) तेषाम् (उपपदरुषः तत्पु॰) पति का तात्पर्य स्वामी से है (पा + डति कर्त्तरि, भावे सप्तमी) । इति—इत्थम् । इस प्रकार से । यह अव्यय पद है तथा वनेचर द्वारा कहे गये सम्पूर्ण सन्देश की ओर इङ्गित करता है । ध्वन्यालोक प्रथमोद्योत की टीका मे लोचनकार आचार्य अभिनवगुप्त ने 'इति पद' का यही वैशिष्ट्य स्पष्ट करते हुए लिखा है—'इति शब्दो निखिलवाक्यपरामर्शको भवति ।' गिरम्–वाचम्, वाणी को, वृत्तान्त को । ईरयित्वा-उक्त्वा कह कर (ईर् + णिच् चौरादिक + क्त्वा) । आत्तसत्क्रिये-गृहीतपारितोषिके, प्राप्त कर ली गई है सत्क्रिया जिसके द्वारा ऐसे उस वनेचर के (चले जाने पर) आत्ता (आङ् + दा + क्त कर्मणि स्त्रियाम्) सत्क्रिया (द्रष्टव्य श्लो० १२) येन स., तस्मिन् (बहुव्रीहिः) । यद्यपि 'आङ् + दा + क्त' का रूप सामान्यतः 'आदत्त' बनना चाहिए था परन्तु नियम है कि 'यदि दा धातु के पूर्व स्वरान्त उपसर्ग रहे और यदि कोई तादि कित् प्रत्यय उसके परे हो तो ऐसी स्थिति मे दा धातु अपने स्वर के स्थान पर 'त्' ग्रहण करती है (अच उपस-र्गात.) । इस प्रकार अब 'आङ् + दा + क्त' का रूप आङ् + त्-त् + क्त = आत्ता बना । गते-याते सति, चले चाने पर । अथ—अनन्तर । किसी नवीन प्रकर-णारम्भ के लिये या आनन्तर्य सूचित करने के लिए अथ का प्रयोग होता है । अमर-कोश देखे—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' । महीभुजा-राज्ञा । राजा युधिष्ठिर द्वारा । कृष्णासदन प्रविश्य–द्रौपदीभवनमासाद्य, कृष्णा अर्थात् द्रौपदी के भवन मे पहुँचकर । जिसमें बैठा जाय, रहा जाय वह सदन है-सीदन्ति अस्मिन् इति

सदनम् (सद् + ल्युट् अधिकरणे) कृष्णाया सदनम् इति कृष्णासदनम् (षष्ठी तत्पु०) 'निशान्तपस्त्यसदन भवनागारमन्दिरम्' इत्यमर । अनुजसन्निधौ-भ्रातृणां समीपे अर्थात् भीमार्जुन प्रभृति भाइयो के समीप । जो अपने बाद पैदा हो वह अनुज है—अनु पश्चात् जाता इति अनुजाः (अनु + जन् + ड कर्त्तरि) तेषा सन्निधिः (सम् + नि + धा + कि भावे) इति अनुजसन्निधि (षष्ठी तत्पु०) तस्मिन् । अधिकरणे सप्तमी । 'सन्निधि सन्निकर्षणम्' इत्यमरः । तद्वचः-वनेचरोक्त वाक्यम् अर्थात् किरात द्वारा कहा गया वह वृत्तान्त, उसको । आचचक्षे-आख्यातम् । पुन. कहा गया, दुहराया गया । आ + चक्ष् + लिट् ए कर्मणि ।

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृती-

स्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा ।

नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनी-

रुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ॥२७॥

निशम्येति । अथ द्रुपदात्मजा द्रौपदी द्विषता सिद्धिम् वृद्धिरूपां निशम्य । ततस्तदनन्तरम् । ततो द्विषद्भ्य आगतास्ततस्त्याः । 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप् । अपाकृतीर्विकारान्विनियन्तु निरोद्धुमक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्युव्ययसाययोः क्रोधोद्योगयोर्दीपिनी· सर्वधिनी· गिरो वाक्यान्युदाजहार जगादेत्यर्थः ॥२७॥

श्लोकान्वय—तत. द्विषता सिद्धि निशम्य ततस्त्या अपाकृती· विनियन्तुमक्षमा द्रुपदात्मजा नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनी· गिर. उदाजहार ।

अनुवाद— तदन्तर, शत्रुओ की सफलता को सुनकर, उससे समुद्भूत मनोविकारो पर नियन्त्रण पाने मे असमर्थ द्रौपदी ने महाराज युधिष्ठिर के क्रोध एवं उद्योग को उद्दीप्त करने वाली बाते कही ।

भावार्थ— युधिष्ठिरमुखादुनुश्रूय शत्रुसमृद्धिकथा दृष्ट्वा च पाण्डवानाम् अनुद्योग द्रुपदतनया महत्कष्टमवाप । स्वभावादेव नारी भावुका भवति । अतस्तच्छ्रवणमात्रेणैव समुद्भूतान् मनोविकारान् नियमयितुमसमर्था सती सा महाराजस्य युधिष्ठिरस्य क्रोधोद्योगयो. सर्वधिनी. वाच· जगाद ।

टिप्पणी—ततः--तदनन्तरम्, उसके बाद । द्विषतां सिद्धि निशम्य-शत्रूणां साफल्य श्रुत्वा । दुर्योधनप्रभृति अपने शत्रुओ की अभिवृद्धि को सुन कर । जो किसी से द्वेष करे वे 'द्विषन्त' हैं—द्विषन्ति इति द्विषन्त (द्विष् + शतृ कर्त्तरि),तेषां

द्विषताम् । शेषेषष्ठी । द्विष् धातु मे शतृ प्रत्यय 'द्विषोऽमित्रे' सूत्र से लगा है जिसका अर्थ यह है कि द्विष् धातु के आगे 'अमित्र' अर्थात् शत्रु अर्थ मे शतृ प्रत्यय लगता है। इस प्रकार बना हुआ 'द्विषत्' शब्द सज्ञा शब्द की तरह प्रयुक्त होता है। सिद्धि का अर्थ है साफल्य (सिध् + क्तिन् भावे द्वितीया एकवचन)। निशम्य का अर्थ है सुनकर (नि + शम् + ल्यप्)। 'शम' दिवादिगणी धातु है जिसके रूप 'शाम्यति—शाम्यत —शाम्यन्ति' आदि चलते है। किन्तु 'नि' उपसर्ग से युक्त होने पर इस धातु (नि + शम्) के दो अर्थ होते है-सुनना और देखना। सुनने के अर्थ मे निपूर्वक शम् (दिवादिगणी) धातु मे णिच् प्रत्यय जोडकर 'मित्' सज्ञा कर दी जाती है और तब 'मितो ह्रस्व ' सूत्र से (दिवादिगणी धातु मे आने वाला दीर्घ-स्वर जैसे शाम्यति का 'आ') ह्रस्व हो जाता है। इस प्रकार रूप बनता है 'निशमयति' आदि। परन्तु देखने के अर्थ मे णिच् प्रत्यय तो होता है परन्तु मित्सज्ञा और ह्रस्व-विधान नही होता। फलत रूप बनता है निशामयति आदि। एक बात और शम् धातु चुरादिगणी भी है शमन के अर्थ मे (द्रष्टव्य—'शमयति परिताप छायया वारितोष्णा ' आदि शाकुन्तलम् मे) नि उपसर्ग जोडने पर इसका भी अर्थ सुनना ही होता है परन्तु यह भी अमित् धातु है फलत ल्यप् प्रत्यय होने पर इसका रूप 'निशम्य' न बन कर निशमय्य' बनेगा। ततस्त्या --द्विषद्भ्य आगता, शत्रुओ से आई हुई अर्थात् शत्रुजनो की सफलता के कारण उत्पन्न होने वाली। तत (तद् + भ्यस् + तस् स्वार्थे) आगता इति ततस्त्या (तत + त्यप्-टाप् स्त्रियाम् द्वितीया बहुवचन) यहाँ त्यप् प्रत्यय 'अव्ययात्त्यप्' सूत्र से हुआ है जिसका अर्थ है-'उद्भूत होने क अर्थ मे अव्यय से त्यप् प्रत्यय होता है।' अपाकृती —विकारान् अर्थात् विकारो को, प्रतिक्रियायो को। अपकरणम् अपाकृतिः (अप + आ + कृ + क्तिन् भावे , ता. अपाकृती. (द्वितीया बहुवचन)। इस अपकरण का अर्थ अपकारादि नही है बल्कि इसका तात्पर्य है प्रवृत्ति या स्वभाव का अन्यथा हो जाना अर्थात् मनोविकार। विनियन्तुम् – निरोद्धुम्। रोक पाने मे (वि + नि + यम् + तुमुन्)। अक्षमा—असमर्था। असमर्थ। क्षमते इति क्षमा (क्षम् + अच् + टाप् स्त्रियाम) न क्षमा इति अक्षमा (नञ् तत्पु०) द्रुपदात्मजा—पाञ्चाली, द्रौपदी। जो अपने से पैदा हो, उसे आत्मजा कहते है—आत्मना जाता इति आत्मजा (आत्मन् + जन् + ड कर्त्तरि टाप् स्त्रियाम्)। द्रुपदस्य पञ्चालनरेशस्य आत्मजा इति द्रुपदात्मजा (षष्ठी तत्पु०)। नृपस्य-युधिष्ठिरस्य। महाराज युधिष्ठिर की। मन्युव्यवसायदीपिनी·–क्रोधोद्योगसवर्धिनी·, अर्थात् क्रोध एव उद्योग को उद्दीप्त करने वाली (बातो को)। मन्यु का अर्थ है 'क्रोध'। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमर। व्यवसाय का अर्थ है उद्योग (वि + अव् + सो + घञ् भावे) मन्युश्च

व्यवसायश्च इति मन्युव्यवसायौ (इतरेतर द्वन्द्व-समास.), तयोः दीपिनीः (दीप् + णिच् + णिनि कर्त्तरि + ङीप् स्त्रियाम्, द्वितीया बहुवचन) इति मन्युव्यवसायदीपिनी । षष्ठी तत्पुरुष । ङीप् प्रत्यय यहाँ 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' सूत्र से हुआ है जिसका अर्थ है-'ऋदन्त और नान्त शब्द से (स्त्रीवाची होने पर) ङीप् प्रत्यय होता है ।' गिर.—वाच., बातो को 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इत्यमर. । उदाजहार—जगाद । बोली । उद् + आ + हृ + लिट् प्रथमपुरुष एकवचन ।

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं
भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां
निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥२८॥

भवादृशेष्विति । भवादृशा भवद्विधा. । पण्डिता इत्यर्थः । तषु विषये । 'त्यदादिषु-' इत्यादिना कञ् । 'आ सर्वनाम्न ' इत्याकारादेश. । प्रमदाजनोदित स्त्रीजनोक्तम् । वदे क्त । 'वचिस्वपि-'इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अनुशासन नियोगवचनमधिक्षेपस्तिरस्कार इव भवति । अतो न युक्त वक्तुमित्यर्थ । तथापि वक्तुमनुचितत्वेऽपि निरस्तनारीसमयास्त्याजितशालीनतारूपस्त्रीसमाचारा । 'समया' शपथाचारकालसिद्धान्तसविद ' इत्यमर. । दुराधय. समयोल्लङ्घनहेतुत्वाद् दुष्टा मनोव्यथा. 'पुस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । मा वक्तुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति । न किञ्चदयुक्त दु खितानामिति भावः ॥२८॥

श्लोकान्वय-भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम् अनुशासनम् अधिक्षेप इव भवति । तथापि निरस्तनारीसमया दुराधय. मा वक्तु व्यवसाययन्ति ।

अनुवाद-आप जैसो के लिए स्त्रीजनो द्वारा उपदिष्ट नियोगवचन अपमान के समान है फिर भी स्त्रियोचित शालीनता को विनष्ट कर देने वाली दुष्ट मनोव्यथाएँ मुझे बोलने के लिये प्रेरित कर रही हैं ।

भावार्थ—महाराज ! भवद्विधेषु पण्डितजनेषुस्त्रीजनोपदिष्ट नियोगवचन तिरस्कार इव वर्तते इति न च नाह जाने । किन्तु कि करोमि मन्दभागिनी? दुराधिभिस्तावत् स्त्रीजनोचित शालीनत्व विनाशमुपगतम् । नाह स्वान्त सुखाय भवन्तमुपदेष्टु समीहे किन्तु ताः एव दुर्दान्ता मनोव्यथा. किञ्चिदवक्तु मामधुना प्रेरयन्ति ।

टिप्पणी—भवादृशेषु-भवद्विधेषु अर्थात् आप जैसे पण्डित व्यक्तियों के विषय मे (भवत् + दृश् + क्त्र् कर्मकर्त्तरि) अधिकरणे सप्तमी। विशेष प्रक्रिया के लिए श्लोक २५ मे 'मादृशाम्' पद की टिप्पणी देखे। प्रमदाजनोदितम्-स्त्रीजनोक्त, अर्थात् स्त्री द्वारा कही गई बात या उपदेश। प्रमदा का अर्थ है स्त्री, जो प्रमद (हर्ष) से युक्त हो, वही प्रमदा है-प्र + मद + अप् भावे=प्रमद ('प्रमदसम्मदौहर्षे' अर्थात् हर्ष के अर्थ मे प्रमद तथा सम्मद इन दोनो शब्दो मे अप् प्रत्यय लगता है) प्रमदः अस्ति अस्या इति प्रमदा (प्रमद + अच् प्रत्यय मत्वर्थीय 'अर्शआदिभ्योऽच्' सूत्र से + टाप् स्त्रियाम्) अथवा प्रमद करोति इति प्रमदा प्रमद + णिच् + अच् + टाप् स्त्रियाम)। प्रमदा चासौ जनश्ज इति प्रमदाजनः (कर्मधारयसमास.)। प्रमदाजनेन उदित (वद् +क्त कर्मणि) इति प्रमदाजनोदितम् (तृतीया तत्पु०) 'प्रमदा मानिनी कान्ता ललना च नितम्बिनी' इत्यमर·। अनुशासनम्—नियोगवचनम् अर्थात् उपदेशपरक वचन। अनुशिष्यते इति अनुशासनम् (अनु + शास् + ल्युट् भावे)। अधिक्षेप इव भवति—तिरस्कार इव वर्तते अर्थात् अपमानके समान है। अधि + क्षिप् + घञ् भावे = अधिक्षेपः, 'अधिक्षेप. समाक्षेपो व्यङ्ग्ययुक्त वचोऽपि वा' इति कोश। तथापि -फिर भी अर्थात् स्त्रीजनोपदेश के तिरस्कारसदृश होने पर भी। निरस्तनारीसमया.—त्याजितशालीनतारूपस्त्रीसमाचारा. अर्थात् जिन्होने स्त्रियोचित शालीनता को समाप्त कर दिया है (ऐसी मनोव्यथाएँ)। 'समय' का अर्थ है 'आचार' या 'शालीनत्व'। अमरकोश देखे-'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविद'। नारीणा समयाः इति नारीसमयाः (षष्ठी तत्पु०), निरस्ताः (निर् + अस् + क्त) त्याजिता नारीसमया. यैस्ते निरस्तनारीसमया. (बहुव्रीहिः)। दुराधयः-दुर्मनोव्यथा·, दुष्ट मनोव्यथाएँ। 'आधि' शब्द सस्कृत मे पुल्लिङ्ग है जिसका अर्थ है मानसिक व्यथा। 'पुस्याधिर्मानसीव्यथा' इत्यमरः। दु. दुष्टाः आधय (आ + धा + कि, प्रथमाबहुवचन) इति दुराधय, प्रादितत्पु०। माम्—द्रौपदीम्, मुझे (द्रौपदी को)। माम् की यहाँ कर्मसज्ञा है और 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीया-विभक्ति का प्रयोग हुआ है। सस्कृत मे किसी भी क्रिया का प्रयोग दो प्रकार से होता है। एक तो साधारण-प्रयोग जैसे 'अह गच्छामि' (मैं जाता हूँ) दूसरा प्रयोग प्रेरणार्थक प्रयोग कहलाता है। जैसे—'स मां गमयति' (वह मुझे जाने को प्रेरित करता है) इसी प्रकार 'पढता है' (पठति), 'पढाता है' (पाठयति) आदि प्रयोग होते है। जब क्रिया को प्रेरणार्थक बनाना होता है तो उसमे एक प्रत्यय जोड देते है—'णिच्' इस प्रकार प्रथमकोटि की क्रियाएँ 'अणिजन्त या अण्यन्त' और द्वितीय कोटि की 'णिजन्त या ण्यन्त' कही जाती है। अब एक सूत्र है—'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकाणाम् अणि कर्त्ता स णौ' (कर्मे

इनि शेष.) । इसका अर्थ है—गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, प्रत्यवसानार्थक, शब्दकर्म वाली तथा अकर्मक धातुओ का (अणि) अणिजन्त रूप मे अर्थात् अप्रेरणार्थक या सामान्य प्रयोग करने पर जो कर्त्ता होता है, वही णौ अर्थात् णिजन्त प्रयोग मे कर्म हो जाता है जैसे—'स: गच्छति' म 'गम्' धातु गत्यर्थक है और 'स ' इस धातु का कर्त्ता है। अब यदि हम 'गम्' धातु का प्रेरणार्थक (णिजन्त या ण्यन्त) प्रयोग करेंगे तो वही कर्त्ता 'स ' उसका कर्म हो जायेगा। जैसे—रामस्त गमयति। ठीक इसी प्रकार यहाँ भी—वि + अव् + सो = व्यवस्यामि(उत्तम पुरुष एकवचन) क्रिया अकर्मक है, अत सामान्य प्रयोग मे आने वाला इसका कर्ता 'अहम्' णिजन्त प्रयोग मे कर्म (माम्) हो गया है। **वक्तुम्**—कथयितुम्, कहने के लिए। **व्यव-साययन्ति**—प्रेरयन्ति, प्रेरित कर रही है (वि + अव् + सो + णिच् लट् लकार प्रथमपुरुष, बहु०) ।

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभि-
श्चिर धृता भूपतिभिः स्ववशजैः ।
त्वयात्महस्तेन मही मदच्युता
मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥२९॥

अखण्डमिति । आखण्डलतुल्यधामभिरिन्द्रतुल्यप्रभावै॰ 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयो:' इति हैम. । स्ववशजै. भूपतिभिर्भरतादिभिश्चिरमखण्डमविच्छि-न्न धृता मही । त्वया, मद च्योततीति मदच्युत् । क्विप् । तेन मदस्राविणा मतङ्गजेन स्रगिवात्महस्तेन स्वकरेण स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता परिहृता, त्यक्ता । स्वदोषा-देवायमनर्थागम इत्यर्थ ॥२६॥

श्लोकान्वय—आखण्डलतुल्यधामभि स्ववशजै भूपतिभि: चिरम् अखण्ड धृता मही त्वया मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिव आत्महस्तेन अपवर्जिता ।

अनुवाद—(महाराज !) इन्द्र के समान प्रभावशाली, स्ववशोत्पन्न (भर-तादि) नरपतियो द्वारा चिरकाल तक अखण्डरूप से प्रशासित पृथ्वी को आपने अपने हाथो गवाँ दिया है, जैसे मदस्रावी गजराज (अर्पित की गई) माला को अपनी सूँड से फेक देता है।

भावार्थ—राजन् ! स्वदोषात् एव अयमनर्थागम । पुरन्दरसदृशैः तेजस्वि-भि॰ स्वकुलोत्पन्नैः भरतशान्तनुप्रभृतिभि सुगृहीतनामधेये राजर्षिभि यद्भूमण्डलं चिरकाल यावदखण्ड प्रशासितमासीत् तदेव भवता स्वकीयेनैव चापलेन द्यूतक्रीडा-

दिकेन परित्यक्तम् । यथा खलु कोऽपि मदमत्तो गजेन्द्रः स्वशीर्षोपरि विन्यस्ता माला स्वेनैव शुण्डादण्डेन दूर क्षिपति । स्वामिन् ! तथैव भवतापि स्वपैत्रिक साम्राज्य सम्प्रति अपवर्जितमस्ति ।

टिप्पणी—आखण्डलतुल्यधामभि —'आखण्डल' अर्थात् इन्द्र के समान है धाम या तेज जिनका, ऐसे (भूपतियो द्वारा) । तुल्य धाम येषा ते तुल्यधामान तुल्यप्रभावा: (बहु०), आखण्डलेन तुल्यधामान· (सुप्सपा), तैः । अमरकोश देखे—'आखण्डल: सहस्राक्षः ऋभुक्षा'' 'वाच्यलिङ्गा समस्तुल्य: सदृक्ष सदृश: सदृक्' । विश्वकोश—धाम शक्तौ प्रभावे च तेजोमन्दिरजन्मसु । स्ववशजै --स्वकुलोत्पनै. अर्थात् अपने वश (चन्द्रवश) मे उत्पन्न होने वाले (भूपतियो द्वारा) । स्वस्य निजस्य वश: इति स्ववश. (षष्ठी तत्पु०), तस्मिन् जाता इति स्ववशजा: (स्ववश + जन् + ड कर्तरि) । 'वशोऽन्ववया. सन्तान.' इत्यमर । भूपतिभि — राजाओ द्वारा ('इव भूपतीनाम्' श्लोक ६ की व्याख्या देखे) । चिरम्—दीर्घकालम्, बहुत दिनो तक (अव्ययपद) । अखण्डम्—अविच्छिन्नम् अर्थात् बिना किसी विच्छेद के, सातत्येन, निरन्तर । धृता—प्रशासिता, धारण की गई । प्रशासित की गई । धृ + क्त कर्मणि स्त्रियाम् । मही—पृथ्वी (उक्ते कर्मणि प्रथमा) 'गोत्रा कु पृथिवी पृथ्वी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही' इत्यमर । त्वया-आप द्वारा । मदच्युता—मदस्राविणा अर्थात् मतवाले । जो मदजल का स्राव करे उसे मदच्युत् कहते है—मद च्योतति इति मदच्युत् (मद + च्यु + क्विप् कर्त्तरि), तेन मदच्युता । उपपद तत्पु० । मतङ्गजेन—गजराजेन, हाथी द्वारा । जो मतङ्ग से उत्पन्न हो उसे मातङ्ग या मतङ्गज कहते है—मतङ्गात् जातः इति मतङ्गजः तेन (मतङ्ग + जन् + ड कर्त्तरि) । 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमर· ।स्रक्इव—माला इव । माला की भाँति । जो यत्नपूर्वक बनाई जाय, गूँथी जाय उसे स्रक् कहते हैं—सृज्यते सयत्न विधीयते इयम् इति स्रक् (सृज् + क्विन् कर्मणि निपातनात्) । 'माल्य मालास्रजौ' इत्यमरः । आत्महस्तेन—स्वकरेण, अपने (ही) हाथ से । आत्मन: हस्त इति आत्महस्त:, तेन (षष्ठी-तत्पुरुष) । करणे तृतीया । आचार्य मल्लिनाथ स्वचापलेन' शब्द का प्रयोग करते हैं । वस्तुत: चपलता से उनका सङ्केत राजा युधिष्ठिर के 'द्यूतव्यसन' की ओर है । अपवर्जिता—परिहृता अर्थात् खो दी गई । अप् + वृज + णिच् + क्त कर्मणि स्त्रियाम् टाप् ।

प्रस्तुत पद्य मे मही एव स्रक् मे उपमेयोपमान भाव है, फलत: उपमालङ्कार मान्य है—'साधर्म्यमुपमाभेदे' ।

स्वदोषादेवायमनर्थागमः इत्युक्तम् । स च दोषः कुटिलेष्वकौटिल्यमेवेत्याह :—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान्
असंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥३०॥

व्रजन्तीति । मूढधिय निर्विवेकबुद्धयस्ते । पराभव व्रजन्ति । ये मायाविषु मायावत्सु विषयेषु 'अस्मायामेधा' इत्यादिना विनिप्रत्यय मायिन मायावन्त व्रीह्यादित्वात् इनिप्रत्ययः, न भवन्ति । अत्रैव अर्थान्तर न्यस्यति प्रविश्येति शठाः । अपकारिणो धूर्ता तथाविधान् अकुटिलान् असवृताङ्गान् अवर्मितशरीरान् निशिता । इषवः इव । प्रविश्य प्रवेशं कृत्वा आत्मीया भूत्वा घ्नन्ति हि । 'आर्जव हि कुटिलेषु न नीतिः' इति भाव ।

श्लोकान्वय-मूढधियः ते पराभव व्रजन्ति ये मायाविषु मायिन न भवन्ति । शठाः तथाविधान् असंवृताङ्गान् निशिता इषव इव प्रविश्य घ्नन्ति हि ।

अनुवाद—मूढबुद्धि वाले वे लोग प राभव प्राप्त करते हैं जो मायावियो के विषय मे (स्वय) मायावी नही होते । धूर्त लोग तथाविध सौम्य पुरुषो के आत्मीय बन कर उन्हे मार ही डालते है जैसे तीखे बाण, कवच से अनाच्छादित शरीर वालो के भीतर घुस कर (उन्हे मार ही डालते है) ।

भावार्थ—इयं खलु नीतिर्यत्—यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः स्तस्मिस्तथा वर्तितव्य, स धर्मः । मायाचारी मायया प्रत्युपेयः साध्वाचारी साधुना प्रत्युपेयः । राजन् ! मन्दबुद्धयस्ते पुरुषा निरन्तरमेव पराभवमुपयान्ति ये खलु शठे शाठ्य न समाचरन्ति । धूर्तास्तु तथाविधसौम्यपुरुषान् अवर्मितशरीरान् अन्तः प्रविश्य मारयन्त्येव यथा खलु तीक्ष्णा बाणाः कवचविहीनान् पुरुषान् व्यापादयन्ति । यद्यपि सुयोधनेन कृत कैतव तथापि भवता न किञ्चित्तादृशमेव क्रियते ।

टिप्पणी—**मूढधिय ते**—निर्विवेकबुद्धय ते पुरुषाः । विवेकहीन बुद्धि वाले वे पुरुष । जिसके द्वारा कुछ चिन्तन किया जाय, वही 'धी' है—ध्यायति अनया इति धीः (ध्यै + क्विप् करणे) । मूढा (मुह + क्त कर्त्तरि स्त्रियाम् टाप्) धी. येषा ते मूढधिय. बहुव्रीहि. । **पराभव**—पराजयम्, अपमान अथवा परिभव को (परा + भू + अप् भावे) । 'पराभवः परिभव. पराजय' इति कोश । **व्रजन्ति**—उपयान्ति, प्राप्त होते हैं (व्रज् + लट् लकार प्रथमपुरुष, बहुवचन) । **ये**—जो

लोग । मायाविषु—मायावत्सु अर्थात् छल-प्रपञ्च का आचरण करने वालो मे । जो मायाप्रदर्शन करे, वे मायावी है—माया अस्ति एषाम् इति मायाविन , तेषु (माया + विनि मत्वर्थे + सुप्) । विनि प्रत्यय यहाँ 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' सूत्र से हुआ है । तात्पर्य है—अस् मे अन्त होने वाले शब्दो एव माया, मेधा और स्रज् शब्दो से विनि प्रत्यय होता है । जैसे तेजस्वी, मायावी एव स्रग्वी शब्द । मायिन·—मायावन्तः, माया से युक्त छली प्रपञ्ची । माया अस्ति एषाम् इति मायिनः (माया + इनि. मत्वर्थे) । यहाँ मत्वर्थक इनि प्रत्यय 'व्रीह्यादिभ्यश्च' सूत्र से हुआ है । तात्पर्य है—व्रीह्यादिगण के शब्दो मे मतुप् के अर्थ मे इनि प्रत्यय होता है । न भवन्ति—नही होते है । शठा -धूर्ता , धूर्तगण, अपकारी लोग । तथाविधान्—अकुटिलान् अर्थात् उस प्रकार के सीधे-सादे पुरुषो को । 'तथा' का अर्थ है 'तादृश' और 'विधा' का अर्थ है प्रकृति या स्वभाव । तथा (तद् + थाल्=तथा, 'प्रकारवचने थाल्' सूत्र से) विधा येषा ते तथाविधाः (बहुव्रीहिः), तान् । असवृताङ्गान्—अवर्मितशरीरान् अर्थात् अनाच्छादित शरीर वालो को । असवृतानि (सम् + वृ + क्त कर्मणि, नञ् तत्पु०) अङ्गानि येषा ते असवृताङ्गाः, तान् (बहुव्रीहि) । आचार्य मल्लिनाथ इसका पर्याय 'अवर्मितशरीरान्' देते हैं । परन्तु यह शब्द वास्तव मे द्व्यर्थक होना चाहिए । बाण के पक्ष मे तो 'अवर्मितशरीरान्' ठीक है—कवचहीन शरीरवालो को । दुष्टो के पक्ष मे इसका अर्थ होना चाहिए—'अगोपितरहस्यान्' अर्थात् रहस्य को गुप्त न रखने वाले । क्यो कि शठ लोग ऐसे ही भोले-भाले व्यक्तियो के आत्मीय बन कर उनका विनाश करते हैं । निशिताः इषवः इव–तीक्ष्णाः बाणाः इव, तीखे बाणो की भाँति । नि + शो + क्त कर्मणि प्रथमा ब० व० । वस्तुत. इस प्रक्रिया से रूप बनना चाहिए 'निशाता ' परन्तु विकल्प से 'निशिताः' रूप बना है—'शाच्छोरन्यतरस्याम्' अर्थात् यदि (क्त +क्तवतु) निष्ठा प्रत्यय परे हो तो शो एव छो धातु को विकल्प से शि और छि आदेश हो जाता है । प्रविश्य—प्रवेश कृत्वा । दुष्टो के पक्ष मे—आत्मीय बन कर या रहस्य जान कर । बाणो के पक्ष मे–शरीर मे घुस कर । प्र+विश्+ल्यप् । घ्नन्ति हि-मारयन्ति एव, मार ही डालते हैं ।

'शठा ' तथा 'इषवः' मे उपमेयोपमान भाव होने के कारण उपमा तथा विशेष (बाद की दोपङ्क्तियाँ) से सामान्य-समर्थन (ऊपर की दो पङ्क्तियाँ) स्वरूप अर्थान्तरन्यास । दोनो अलङ्कारो की तिलतण्डुलवत् ससृष्टि है इस पद्य में ।

न च लक्ष्मीचाञ्चल्यादनर्थागमः,किन्तु स्वोपेक्षादोषमूलत्वादित्याशयेनाह-—

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः,
कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारये-
न्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥३१॥

गुणेति, अनुरक्तसाधनोऽनुकूलसहायवान् । उक्त च कामन्दकीये—'उद्योगादनिवृत्तस्य ससहायस्य धीमतः। छायेवानुगता तस्य नित्यं श्री· सहचारिणी ।' इति । कुलाभिमानी क्षत्रियत्वाभिमानी कुलं नत्वाभिमानी च त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्य । 'अन्यारात-' इत्यादिना पञ्चमी । क इव नराधिपो । गुणैः सन्ध्यादिभिः सौन्दर्यादिभिश्चानुरक्तामनुरागिणी कुलजा कुलक्रमादागता कुलीना च मनोरमा श्रियम् आत्मवधूमिव स्वभार्यामिव 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः । परैः शत्रुभिरन्यैश्चापहारयेत् । स्वयमेवापहार कारयेदित्यर्थः । कलत्रापहारवल्लक्ष्म्यपहारोऽपि राज्ञा मानहानिकरत्वादनुपेक्षणीय इति भाव: ॥३१॥

श्लोकान्वय—अनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी त्वदन्य क इव नराधिपः गुणानुरक्ता कुलजां मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् परै· अपहारयेत् ।

अनुवाद—अनुकूल सहायको से युक्त, कुलाभिमानी आपके अतिरिक्त भला और कौन अनुकूल सैन्यशक्ति वाला, क्षत्रियत्वाभिमानी नरेश है जो कि गुणो मे अनुरक्त, कुलीन एव मनोरमा अपनी प्रियतमा की भाँति (सन्ध्यादि) गुणो मे अनुरक्त, कुलक्रमागत एव सुखदायिनी अपनी साम्राज्यलक्ष्मी को दूसरो (शत्रुओ) से अपहृत कराएगा ?

भावार्थ—प्राणेश ! त्वयैव तावदीदृशमनर्थमाचरितम् । अन्यथा त्वदन्यः को वापरो नरपति· स्वप्रियतमामिव स्वसाम्राज्यलक्ष्मीमपि शत्रुभि· अपहारयेत् ? न कोऽपि । साम्राज्यलक्ष्मी अपि सौन्दर्यादिगुणानुरक्ता, सद्वशोत्पन्ना मनोरमा प्रियतमेव सन्ध्यादिगुणाकृष्टा कुलक्रमादागता सुखकरी च भवति । अनेनैव सापि भार्येव दुस्त्यजा भवति । किन्तु स्वामिन् ! श्रीमता तु द्वे अपि शत्रुभि अपहारिते । तदिद महदशोभनम् ।

टिप्पणी—सम्पूर्णपद्य उभयार्थक है, पहला द्रौपदी के पक्ष मे और दूसरा राजलक्ष्मी के पक्ष मे । फलत. प्रत्येक शब्द की दो व्यञ्जनाएँ हो गई हैं । अनुरक्तसाधनः—अनुकूलसेवक·, अनुकूलसेन अर्थात् (द्रौपदी-पक्ष मे) अनुकूल सेवको-सहायको वाला अथवा अनुकूल सैन्यशक्ति वाला । जिससे किसी अर्थ की सिद्धि की जाय वही साधन है—साधयति अनेन अर्थान् इति साधनम् '(साध्+णिच्+करणे

ल्युट् अथवा दिवादिगणी धातु सिध् + णिच् + करणे ल्युट्) व्याकरण के नियमानुसार यदि सिध् धातु का पारलौकिक अर्थ न हो तो उसका णिजन्त रूप होने पर उसमे आत्व आ जाता है। सूत्र है—- 'सिध्यतेरपारलौकिके'। यहाँ सिध् का प्रयोग (साधन =) सेना के अर्थ मे है, अत आत्वागम हो गया जिससे कि साधन शब्द बना। साधन अर्थात् सेवक या सैन्यबल जिसके अनुकूल हो वही अनुरक्तसाधन है—अनुरक्त साधन यस्य स (बहुव्रीहि)। कुलाभिमानी—कुलीनत्वाभिमानी, क्षत्रियत्वाभिमानी। जिसे अपने कुल की लाज होगी वह जीते जी पत्नी का अपहरण परायो से नही कराएगा और जिसे अपने क्षत्रियत्व का अभिमान होगा वह अपनी राजलक्ष्मी का अपहरण शत्रुओ से नही कराएगा। पहला अर्थ द्रौपदीपक्षीय और दूसरा राज्यलक्ष्मीपक्षीय है। कुलस्य कुलीनत्वस्य क्षत्रियत्वस्य वा अभिमान· (अभि + मन् + भावे घञ्) इति कुलाभिमान. (षष्ठी तत्पु०) सोऽस्ति अस्येति (कुलाभिमान + इनि मत्वर्थीय)। त्वदन्य· क इव—आपके अतिरिक्त भला और कौन ! 'त्वदन्य.' शब्द मे पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग अन्य शब्द के कारण हुआ है ('अन्यारादितरर्ते-दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' सूत्र से) 'क इव' मे 'इव' के साथ 'कः' का प्रयोग प्रायः व्यग्रता या वैपरीत्य दिखाने के लिए होता है। द्रष्टव्य—किमिव हि मधुराणां मण्डन नाकृतीनाम् (शाकुन्तल, अथवा विना सीतादेव्या: किमिव हि न दु ख रघुपते: (उत्तरचरित)। नराधिपः—राजा। अधि पातीति अधिप· (अधि + पा + क कर्त्तरि) नराणाम् अधिपः इति नराधिप· (षष्ठी तत्पु०)। गुणानुरक्ताम्—गुणानुरागिणीम्। द्रौपदीपक्ष मे—सौन्दर्यादि गुणो के कारण अनुरक्त तथा राजलक्ष्मीपक्ष मे—सन्धि आदि गुणो के कारण अनुरक्त। गुणै सौन्दर्यादिभि: सन्धिविग्रहादिभिर्वा अनुरक्ता इति गुणानुरक्ता (सुप्सुपा) ताम्। कुलजाम्—कुलीना, कुलक्रमादागताम्। अर्थात् सद्वश मे उत्पन्न (द्रौपदी) अथवा कुलक्रमागत, पैत्रिक (राजलक्ष्मी) कुलात् कुले वा जाता इति कुलजा (कुल + जन् + ड कर्त्तरि, स्त्रियां टाप्) ताम्। मनोरमाम्-हृद्याम् अर्थात् रमणीय, यही अर्थ दोनो पक्षो मे घटित होगा क्योकि प्रियतमा एव राजलक्ष्मी दोनो ही मनोरमा या हृद्य होती है। जो रमा दे वही रमा है—रमयति इति रमा (रम् + णिच् + अच् कर्त्तरि + टाप्) मनसः रमा इति मनोरमा ताम् (षष्ठी तत्पु०)। आत्मवधूमिव—स्वभार्यामिव अपनी प्रियतमा की भाँति। आत्मन· वधूः इति आत्मवधूः षष्ठी तत्पु० ताम्। अमरकोश देखे- स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः। 'इव' यहाँ उपमार्थक है। श्रियम्—साम्राज्यलक्ष्मी को। लक्ष्मी. पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया इत्यमर.। परै. अन्यै. शत्रुभि:। द्रौपदी के पक्ष मे-परायो द्वारा। दुर्योधन आदि पराए ही तो थे जिन्होने 'सभाभवन' मे द्रौपदी का वस्त्रापहरण किया था। राजलक्ष्मी पक्ष मे शत्रुओ द्वारा। अपहारयेत्-

स्वयमेव अपहार कारयेत् । अपहृत करवाएगा । अप + हृ + णिच् + लिङ्, प्रथम-पुरुष, एकवचन ।

प्रस्तुत पद्य मे आत्मवधू तथा श्री मे उपमेयोपमान भाव है, साधर्म्य एवं वाचकशब्द का भी प्रयोग है, फलत पूर्णोपमा अलङ्कार है ।

अथ दशभि कोपोद्दीपन करोति —

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते,
विवर्त्तमानं नरदेव वर्त्मनि ।
कथन्न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः
शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः॥३२॥

भवन्तमिति । हे नरदेव नरेन्द्र एतर्हि इदानीम् अस्मिन्नापत्कालेऽपि इत्यर्थः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रत तथा' इत्यमर । 'इदमोर्हिल्' इति हिल् प्रत्ययः । 'एतेतौ रथो ' इत्येतादेश. । आपदमेवाह—मनस्विगर्हिते शूरजुगुप्सिते वर्त्मनि मार्गे विवर्त्तमान शत्रुकृता दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः । भवन्त स्वग्मुदीरित उद्दीपितो मन्युः क्रोधः । शुष्क नीरसम् । 'शुषः क.' इति निष्ठातकारस्य ककार शमी चासौ तरुश्चेति विशेषणसमासः तम् । शमीग्रहण शीघ्रज्वलनस्वभावात् कृतम् । उच्छिखः उद्गत-ज्वालः । 'घृणिज्वाले अपि शिखे' इत्यमरः । वह्निरिव कथं न ज्वलयति । ज्वलयितु-मुचितमित्यर्थः । 'मिता ह्रस्व' इति ह्रस्व. ॥३२॥

श्लोकान्वय—हे नरदेव एतर्हि मनस्विगर्हिते वर्त्मनि विवर्त्तमानम् भवन्तम् उदीरित मन्यु. शुष्क शमीतरुम् उच्छिख अग्निरिव कथं न ज्वलयति ।

अनुवाद —राजन् ! इस समय मनस्वी पुरुषो द्वारा विनिन्दित मार्ग में (शत्रुकृत) दुर्दशा का अनुभव करने वाले आपको उद्दीपित क्रोध, शुष्क शमीतरु को जला देने वाले प्रदीप्त अग्नि की भाँति, क्यो नही प्रज्वलित कर देता ?

भावार्थ—राजन् ! अवस्थान्तरापन्नो भवान् निरन्तरमेव शत्रुकृतां दुर्दशा घोरःपीडम् अनुभवति । इदमेव तावदाश्चर्यं यन्मार्गोऽप्यय मनस्विविनिन्दितः, भवान् अपि सहायादिसम्पन्न । तथापि मौनमवलम्ब्य न किञ्चिदपि भवता क्रियते । कथ न समुद्दीपितः क्रोध दुरवस्थं भवन्त तेनैव प्रकारेण ज्वलयति यथा अग्नि शुष्क शमीतरुम्?

टिप्पणी—नरदेव—राजन् ! हे महाराज । एतर्हि—साम्प्रतम्, इस समय अर्थात् इस आपत्काल मे भी । इदम् + ङि + हिल् स्वार्थे = एत + ङि + हिल् =

फा०—७

एतर्हि । समयवाची इदम् शब्द से र्हिल् प्रत्यय होता है, ऐसा महर्षि पाणिनि का मत है—'इदमोर्हिल्' । यहाँ इदम् के स्थान पर क्रमश: एत और इत आदेश हो जाते है यदि प्राग्दिशीय के र और थ अक्षर परे हो तो । सूत्र है—'एतेतौ रथो.' । चूँकि र्हिल् प्राग्दिशीय प्रत्यय है, अत उसका रकार परे होने के कारण इदम् के स्थान पर एत आदेश हो गया । यह एक अव्ययपद है । अमरकोश देखे—'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रत तथा ।' **मनस्विगर्हिते**-शूरजुगुप्सिते अर्थात् शूरपुरुषो द्वारा निन्दित (मार्ग मे) । जिसका मन प्रशस्त हो वह मनस्वी कहा जाता है—प्रशस्त मन. अस्यास्तीति मनस्वी (मनस् + विनि) तैः गर्हित निन्दितम् (गर्ह निन्दायाम् + क्त कर्मणि) इति मनस्विगर्हितम्, तस्मिन् (तृतीया तत्पु॰) । **वर्त्मनि**—मार्गे । 'अयन वर्त्ममार्गाध्वपन्थान पदवी सृति·' इत्यमरः । **विवर्तमानम्**-शत्रुकृत दुर्दशा का अनुभव करने वाले (आपको) वि + वृत् + शानच् कर्त्तरि, तम् । **भवन्तम्** श्रीमन्तम् आपको । (भा + डवतु + अम्) **उदीरित मन्युः**-उद्दीपित. क्रोधः अर्थात् उद्दीपित किया गया क्रोध । उद् + ईर् + णिच् + क्त कर्त्तरि प्रथमैकवचन । मन्यु का अर्थ है क्रोध 'मन्युर्दैन्यै क्रतौ क्रुधि' इत्यमर· । **शुष्कम्**—नीरसम्, सूखे हुये (को) शुष् + क्त + सु = शुष्कस्त । शुष् धातु के आगे लगने वाले निष्ठा (अर्थात् क्त' क्तवतु) प्रत्ययो को 'क' हो जाता है, ऐसा पाणिनीय मत है 'शुषः क.' । **शमीतरुम्**—शमीवृक्ष (को) शमी चासौ तरुश्चेति तम् (कर्मधारय) अथवा शमीनामा तरुः इति शमीतरुः तम् (शाकपार्थिवादि समास) । **उच्छिखः अग्निरिव**—उद्गतज्वालो वह्निरिव, उठी हुई लपटो वाले अग्नि की भाँति । उद्गत हो गयी है, ऊपर उठ गई है शिखा या ज्वाला जिसकी, उस अग्नि को'उच्छिख' कहा जायेगा—उद्गता शिखा अस्य इति (उत् + शिखा =) उच्छिखः । कथ न ज्वलयसि—क्यो नही जला देता है?

प्रस्तुत पद्य मे मन्यु एव अग्नि मे उपमेयोपमान भाव होने के कारण उपमालङ्कार मान्य है ।

नन्वन्त शत्रुत्वादय क्रोधस्त्याज्य एवेत्याशङ्क्याह —

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां,
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥३३॥

अवन्ध्येति । अवन्ध्य. कोपो यस्य तस्यावन्ध्यकोपस्य अत एवापदां विहन्तु निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः । पुस इति शेषः । देहिनो जन्तवः स्वयमेव वश्या वशङ्गता

भवन्ति । 'वश गतः' इति यत्प्रत्यय । अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थ । व्यतिरेके त्वनिष्टमाचष्टे—अमर्षशून्येन नि·कोपेन जन्तुना कन्यया शोक इतिवत् 'हेतौ' इति तृतीया । हृदयस्य कर्म हार्दं स्नेह । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमर. युवादित्वादण् । 'हृदयस्य हृल्लेखयदणलासेषु' इति हृदादेशः । जातहार्देन जातस्नेहेन जनस्य आदरो न । विद्विषा द्विषता च सता दरो न । अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकिञ्चित्करत्वादगण्यावित्यर्थः । अथवा विद्विषा सता दरो भयन्न । 'दरोऽस्त्रिया भये श्वभ्रे' इत्यमरः । एतस्मिन्नेव प्रयोगे सन्धिवशाद् द्विधा पदच्छेद. । पु वाक्येषु न दोष. । अतः स्थाने कोप· कार्य· त्याज्यस्त्वस्थाने कोप इति भाव. ।

श्लोकान्वय—अबन्ध्यकोपस्य आपदां विहन्तु· देहिन. स्वयमेव वश्याः भवन्ति । अमर्षशून्येन जन्तुना जातहार्देन जनस्य आदरो न विद्विषा दरो न ।

अनुवाद—सफलक्रोधवाले, निग्रहानुग्रहसमर्थ व्यक्ति के वशीभूत प्राणी अपने आप हो जाते हैं (परन्तु) अमर्षशून्य व्यक्ति के मैत्रीभाव बरतने पर (भी उसके प्रति) लोगो की आस्था नही होती और द्वेषभाव रखने पर भय नही होता ।

भावार्थ—राजन् ! निरमर्षो जनः क्वचिदपि समादरपात्र न भवति । यतो हि अमर्षेणैव समेषा स्वाभिमानवता जीवाना हृत्सु उत्साह. तदनन्तर समुद्योगश्च जायते । स एव पराक्रमशीलो जीवः सर्वैः आद्रियते । परन्तु यो हि सफलक्रोधो न भवति, किन्तेन? अजागलस्तनस्येव तस्यापि जन्म निरर्थकमेव । काम स जनोऽस्मन्मित्र शत्रुर्वा । निग्रहानुग्रहसामर्थ्ये विगलिते सति तस्य पौरुषमपि विगलितमेव भवति ।

टिप्पणी—अबन्ध्यकोपस्य—अनिष्फलक्रोधस्य अर्थात् जिसका क्रोध बन्ध्य (बाँझ=निष्फल) न हो । जो अवरुद्ध होने योग्य हो अथवा बँध जाय वही बन्ध्य है—बन्धु योग्य· इति बन्ध्यः (बन्ध्+ण्यत् कर्मणि) अथवा बन्धनमेव बन्धः (भावे घञ्) बन्धे साधु· इति बन्ध्य (बन्ध. फलावष्टम्भे+यत्) न बन्ध्य इति अबन्ध्यः (नञ् तत्पु०), अबन्ध्यः कोपः यस्य स. अबन्ध्यकोपः, तस्य (षष्ठीतत्पु०) । आपदाम्-विहन्तुः--निग्रहानुग्रहसमर्थस्य अर्थात् आपत्तियो का विनाश करने वाले (के) । आ+पद+क्विप् भावे=आपद्, तासाम् आपदाम् । वि+हन्+तृच् कर्त्तरि=विहन्तृ तस्य विहन्तु । चूँकि 'विहन्तु' शब्द मे आने वाला तृच् प्रत्यय कृत् प्रत्ययो मे आता है, अतः 'आपदाम्' (जो कि मूलतः कर्म था) शब्द मे 'कर्मणि' षष्ठी हुई है । सूत्र है—'कर्तृकर्मणो. कृति' (साधारण वाक्य इस प्रकार होता—'आपदः विहन्ति' अर्थात् आपदाओ को (द्वितीया बहुवचन) विनष्ट करता है । देहिनः—प्राणिन. जीवगण । देह जिसके पास हो वह देही है--देह. अस्ति एषाम् इति देहिनः (देह+इनि मत्वर्थे,

प्रथमा बहुवचन)। स्वयमेव--अपने आप। वश्याः भवन्ति--वशीभूत हो जाते हैं। जो वश में हो, वे वश्य हैं--वश गता. इति वश्याः (वश - यत् प्रथमा बहुवचन)। यहाँ यत् प्रत्यय 'वशं गत' सूत्र से हुआ है। अमर्षशून्येन जन्तुना—क्रोधहीनेन प्राणिना अर्थात् क्रोधहीन प्राणी द्वारा। मृष् धातु का प्रयोग तितिक्षा या शान्ति के अर्थ मे होता है। इस प्रकार 'मर्ष' का अर्थ है क्षमा या शान्त। मृष्तितिक्षायाम् + घञ् भावे-मर्षः, न मर्ष. इति अमर्ष (नञ् तत्पु०), अमर्षेण शून्य इति अमर्षशून्य. (तृतीया तत्पु०), तेन। जन्तु का अर्थ है प्राणी—'प्राणी तु चेतनो जन्मा जन्तुजन्युशरीरिणः' इत्यमरः। जातहार्देन—उत्पन्नस्नेहेन अर्थात प्रेमयुक्त। जात = उत्पन्न हो गया है हार्द = स्नेह जिसमे ऐसे प्राणी द्वारा—जात हार्द यस्य सः जातहार्द., तेन [षष्ठी बहु०]। हृदय के कर्म को 'हार्द' कहते है हृदय के कर्म यद्यपि पाप-पुण्य सभी है, किन्तु शास्त्रसम्मत कर्म 'प्रेम' होने के कारण 'हार्द' शब्द इसी अर्थ मे रुढ है। हृदयस्य कर्म हार्दम् [हृदय हृद् + अण्]। यद्यपि इस प्रक्रिया से 'हार्द' रूप नही बनता है। इस प्रसग मे यह सूत्र पढे—'हृदयस्य हृत् लेख यत् अण् लासेषु अर्थात् लेख शब्द, यत् प्रत्यय, अण् प्रत्यय तथा लास शब्द आगे आने पर हृदय के स्थान पर हृद् आदेश हो जाय। यहाँ अण् प्रत्यय का सन्दर्भ था। 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः। जनस्य आदरो न—लोगो की आस्था नही होती। विद्विषा—शत्रुणा सता अर्थात् शत्रु होने पर [व्युत्पत्ति के लिए तीसरा श्लोक देखे] दरो न—भय नही होता। दर का अर्थ है भय-दृ + अप् भावे = दर. (दरोऽस्त्रिया भये श्वभ्रे इत्यमरः)।

'विद्विषादर.' शब्द मे विद्विषा + दरः तथा विद्विषा + आदरः--इन द्विविध विग्रहो के कारण प्रस्तुत पद्य मे सभङ्ग श्लेष है। साथ ही साथ वकार, जकार एव दकारादि की आवृत्तिवर्श अनुप्रास अलङ्कार भी है।

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः
पदातिरन्तर्गिरिरेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं
दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥३४॥

परिभ्रमन्निति। लोहितचन्दनोचित उचितलोहितचन्दनः 'वाहिताग्न्यादिषु' इति साधु। अभ्यस्तरक्तचन्दन इत्यर्थः। 'अभ्यस्तेऽप्युचित न्याय्यम्' इति यादवः। महारथो रथचारी। उभयत्रापि प्रागिति शेषः। अद्य तु रेणुरूषितो धूलिच्छुरितः।

पादाभ्यामतति गच्छतीति पदातिः पादचारी। 'अज्यतिभ्यां च' इत्यनुवृत्तौ 'पादे च' इत्यौणादिक इन्प्रत्ययः। 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इति पदादेशः। अन्तर्गिरि गिरिष्वन्तः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पात्समासान्ताभावः। परिभ्रमन् अयम्। वृकोदरो भीमः। सत्यधनस्य इति सोल्लुण्ठनवचनम्। अद्यापि सत्यमेव रक्ष्यते, न तु भ्रातर इति भावः। तवेति शेषः मानसं नो दुनोति कच्चिन्न परितापयति। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। स्वाभिप्रायाविष्करणं कामवेदनम्॥३४॥

श्लोकान्वय—लोहितचन्दनोचितः महारथः रेणुरूषितः पदातिः अन्तर्गिरि परिभ्रमन् अय वृकोदरः सत्यधनस्य मानसम् नो दुनोति कच्चित्।

अनुवाद–रक्तचन्दन के अभ्यासी, महारथी (किन्तु सम्प्रति) धूलिधूसरित तथा पैदल (ही) पर्वतो मे पर्यटन करने वाले ये भीम सत्यप्रतिज्ञ आपके मन को क्या सन्तप्त नही कर देते ?

भावार्थ—प्राणनाथ! दृष्ट मया भवदीय बन्धुहार्दम्! निरन्तरमेव यः रक्तचन्दनानुलेपस्य उद्वर्तनलोलुपः महारथश्चासीत् स एव भवदनुजो वृकोदरः साम्प्रतं धूलिधूसरितः पदातिरेव गहनपर्वताभ्यन्तरेषु कन्दमूलफलाहरणाय पर्यटति। किमेव पश्यतोऽपि सत्यधनस्य भवतः मानसं न दुनोति ?

टिप्पणी—लोहितचन्दनोचित—रक्तचन्दनलेपाभ्यासी, अर्थात् लालचन्दन का लेप करने वाले। उचित है लोहित चन्दन जिसके ऐसे भीम—उचितं (उच्+क्त कर्मणि) लोहित चन्दन (कर्मधारय) यस्य सः लोहितचन्दनोचितः अथवा उचितलोहितचन्दन (बहुव्रीहि)। उपर्युक्त व्याख्यानुसार इस समस्तपद के दोनो ही रूप व्याकरण-सम्मत हैं क्यो कि नियम है—'वाहिताग्न्यादिषु' अर्थात् आहिताग्नि गण मे आने वाले शब्दो मे निष्ठान्त शब्द का विकल्प से पूर्वप्रयोग होता है। यद्यपि 'लोहितचन्दनोचित' शब्द आहिताग्निगण मे साक्षात् परिगणित नही है फिर भी चूँकि वह 'आकृतिगण' है अतएव स्वरूपसाम्यवश यहाँ भी वही नियम लागू होगा। निष्ठा का अर्थ है क्त और क्तवतु प्रत्यय। जैसे उपर्युक्त शब्द मे—'उचितम्'। नियमानुसार 'उचितम्' विकल्प से पहले या बाद मे कही भी आ सकता है। 'भीमसेन को रक्तचन्दन अत्यन्त प्रिय था' ऐसी महाभारत की घोषणा है। लोहित का अर्थ है लाल—'लोहितो रोहितो रक्तः' इत्यमरः। 'पाटीरश्चन्दनोऽस्त्री गन्धसारः' इति कोषः। महारथः-रथचारी, महारथी। महान् रथः यस्य सः महारथः (बहु०)। कर्मधारय एव बहुव्रीहि समास मे समानाधिकरण शब्द के तथा जातीयर् प्रत्यय परे रहने पर महत् शब्द को आकार अन्तादेश होता है। सूत्र है—'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः'। फलतः यहाँ बहुव्रीहि समास के सन्दर्भ मे महान् का 'महा' हो

गया । जो वीर अकेले ही दश हजार योद्धाओ का सामना करे, वही महारथी है— 'एकोदश सहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते ।' रेणुरूषित —धूलिच्छुरित , धूलिधूसरित । रेणुभि रूषित (रूष्+क्त कर्त्तरि) इति रेणुरूषित (तृतीया तत्पु०); 'रेणुर्द्वयो स्त्रिया धूलि:' इत्यमर. । पदाति:— पैदल । अत् धातु सातत्यगमन के अर्थ मे प्रयुक्त होती है—पादाभ्याम् अतति गच्छति इति पदाति (पाद = पद + अत् + इण्) । इण् प्रत्यय यहाँ 'पादे च' तथा 'अज्य-तिभ्याञ्च' इन दो औणादिक सूत्रो से हुआ है जिसका अर्थ है—पाद उपपद, अज् तथा अत् धातु से इण् प्रत्यय होता है । दूसरी बात यह कि पदाति शब्द मे पाद को 'पद' आदेश भी हो गया है । नियम है कि आजि, आति, ग और उपहत उत्तरपद होने पर पाद को पदादेश हो जाता है—'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' । पदा-तिपत्तिपदगपादातिकपदाजय' इत्यमर. । अन्तर्गिरि—अर्थात् पर्वतो मे । गिरिषु इति अन्तर्गिरि, सप्तमी बहुवचन । विभक्ति के अर्थ मे यहाँ अव्ययीभाव समास हुआ है (विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव:) । आचार्य सेनक के मतानुसार गिरि शब्द मे विकल्प से समासान्त टच् प्रत्यय भी लग सकता है । उस स्थिति मे समस्तपद का रूप होगा-- अन्तर्गिरम् । परिभ्रमन्-पर्यटन्, घूमते हुए (परि+भ्रम् + शतृ प्रत्यय, प्रथमैकवचन) अय वृकोदर:—यह भीमसेन । वृक का अर्थ है भेडिया—वातप्रमीर्वातिमृग' कोक-स्त्वीहामृगो वृक: इत्यमर: । भेडिये के पेट को 'वृकोदर' कहेगे । वृकोदर के समान जिसका उदर हो वही 'वृकोदर है—वृकस्य उदरम् वृकोदरम् (षष्ठी तत्पु०), तदिव उदर यस्य स वृकोदर: (बहुव्रीहि) यह शब्द भीमसेन के अतिभक्षी होने का सकेत करता है । 'वृक' आमाशय मे विद्यमान अग्नि (जाठराग्नि) को भी कहते है जो खाद्यसामग्री को गला-पचा देता है । अत: वृकोदर शब्द की दूसरी व्याख्या यह भी सभव है—वृकनामा अग्निर्विद्यते उदरे यस्य स' वृकोदर: (बहु०) । सत्यधनस्य— सत्य रूपी धन वाले (आपके) । सत्यम् एव धन यस्य स: सत्यधन:, तस्य (बहु०) । मानसम्—मन को । मन एव मानसम् (मनस्+अण् स्वार्थे) । 'स्वान्त हृन्मानस मन:' । नो दुनोति कच्चित्-नही सन्तप्त करते क्या ? 'नो' न के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाला अव्यय है और कच्चित् भी कुशल-मगल पूछने अथवा अपना अभिप्राय प्रका-शित करने के लिए प्रयुक्त होने वाला अव्यय है । रघुवश मे-'कच्चित् कुशली गुरुस्ते' अथवा उत्तरमेघ मे—'कच्चित्सौम्य ! व्यवसितमिद बन्धुकृत्य त्वया मे' आदि द्रष्टव्य है । दुनोति—तापयति (स्वादिगण दु धातु उपतापे + लट्लकार प्रथम-पुरुष एकवचन) ।

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्
कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः ।

स वल्कवासांसि तवाधुनाहरन्
करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ॥३५॥

विजित्येति । वासव इन्द्र. उपमा उपमान यस्य स. वासवोपम॰ इन्द्रतुल्य. । यो धनञ्जय॰ । उत्तरान् कुरून् मेरोरुत्तरान् मानुषान् देशविशेषान् । विजित्य प्राज्य प्रभूत 'प्रभूत प्रचुर प्राज्यम्' इत्यमर. । कुप्यात् अन्यत् अकुप्य हेमरूप्यात्मक 'स्यात् कोशश्च हिरण्यञ्च हेमरूप्ये कृताकृते । ताभ्या यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमर । वसु धनम् अयच्छद्त्तवान् । 'पाघ्रा—' इत्यादिना यच्छादेश । स धनञ्जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः 'सज्ञाया भृतृवृजि—' इत्यादिना खच्प्रत्यय । 'अरुर्द्विषत्—' इत्यादिना मुमागमः । अधुना अस्मिन् काले । अधुना इति निपातनात् साधु. । तव वल्कवासासि आहरन् कथ मन्यु क्रोध दु ख वा न करोति ॥३५॥

अन्वय-वासवोपमः यो धनञ्जयः उत्तरान् कुरून् विजित्य प्राज्यम् अकुप्यम् वसु अयच्छत्, अधुना वल्कवासासि आहरन् स कथ तव मन्यु न करोति ।

अनुवाद-इन्द्रतुल्य जिस अर्जुन ने उत्तरकुरुप्रदेशो पर विजय प्राप्त करके, प्रभूत मात्रा वाली स्वर्ण-रजत सम्पत्ति आपको समर्पित की, अब वल्कल-वस्त्र लाने वाला वही (वीर) आपके क्रोध को कैसे नही उभाड देता ?

भावार्थ—राजन् आस्ता तावदिय कथा वृकोदरस्य । पश्यतु भवान् वीरधनुर्धरस्य पार्थस्य दुर्दशाम् ! पुरन्दरसदृशः यो धनञ्जय. पुरा राजसूययागप्रसगे निखिलान् उत्तरकुरुप्रदेशान् स्वबाहुबलेन विजित्य अपरिमेय काञ्चन राजतञ्च कोश भवते प्रदत्तवान् स एव पार्थः साम्प्रतम् आहिण्डमान अटवीतोऽटवी बल्कलवस्त्राणि च समुपनयन् कथ न तव क्रोधाग्नि प्रोद्धुर करोति इत्येव महदाश्चर्यम् ! किमियम् अनुजदुर्दशा सह्यैव विद्यते ?

टिप्पणी—**वासवोपमः**—इन्द्रतुल्य॰, इन्द्र के समान (प्रतापशाली) उपमा (उप + मा + अङ् भावे) का अथ है साम्य । वासव या इन्द्र जिसके साम्य हो वही 'वासवोपम' है । वासव॰ उपमा यस्य सः (बहु०) 'सुत्रामा गोत्रभिद्वज्री वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः । **यो धनञ्जय.**–योऽर्जुन., जो अर्जुन । द्रौपदी 'यः' का प्रयोग करके महाराज युधिष्ठिर को उनके पूर्वकालीन वैभव की स्मृति दिला रही है । अब तो अर्जुन 'भिखारी' हो गया है परन्तु राजसूययाग करते समय दिग्विजय मे 'जो' 'धनञ्जय' था । धनञ्जय का अर्थ ही है—धन को जीतने वाला । धनं जयति इति धन + जि + खच् प्रत्यय । भृ तृ वृ तथा जि आदि धातुओ से संज्ञा के अर्थ मे खच् प्रत्यय होता है—'सज्ञाया भृतृवृजिधारिसहितपिदमः' । यहाँ 'धन–

ञ्जय' एक सज्ञा है, अत. जि धातु से खच् प्रत्यय हुआ है। धन और जय के बीच मे मुम् का आगम—'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' सूत्र से हुआ है। अर्थ है—अरुस्, द्विषद् और अजन्त शब्द को मुम् का आगम हो यदि खिदन्त उत्तरपद परे हो। यहाँ धन शब्द अजन्त यानी अच् (स्वर) से अन्त होने वाला है और उत्तरपद के रूप मे अवस्थित जय शब्द खच् प्रत्यय से अन्त होने वाला खिदन्त है, फलत मुमागम हुआ। उत्तरकुरु की विजय के बाद ही अर्जुन को धनञ्जय की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी, अत: प्रस्तुत सन्दर्भ मे शब्द का प्रयोग अत्यन्त सार्थक है। **उत्तरान् कुरून्**—मेरु के उत्तर में विद्यमान देश-विशेष। मेरु पर्वत की स्थिति आधुनिक विद्वान् पामीर के आसपास स्वीकार करते हैं, फलत: उत्तरकुरु का अर्थ चीन, मगोलिया, मचूरिया, रूस, तुर्की आदि जनभूमियो से है। अर्जुन ने इन देशो पर विजय की थी। उत्तरकुरु पृथ्वी के नौ पौराणिक-खण्डो मे से अन्यतम है—भारत, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, उत्तरकुरु, भद्राश्व और केतुमाल। **विजित्य**—जीत करके (वि + जि + ल्यप्)। **प्राज्यम्**—प्रभूतम्, अपरिमेय, बहुत अधिक। प्राजीयते इति प्राज्यम् (प्र + अज्गतौ + ण्यत् कर्मणि) अथवा प्रकर्षेण अज्यते काम्यते इति प्राज्यम् (प्र + अज् + क्यप् कर्मणि) 'प्रभूत प्रचुर प्राज्यम्' इत्यमर·। **अकुप्यम्**-हेमरूप्यात्मकम् अर्थात् सोना-चाँदी। जो 'कुप्य' से अतिरिक्त हो वही, 'अकुप्य' है। कुप्य शब्द की व्युत्पत्ति है—'गुप्यते रक्ष्यते इति कुप्यम् (गुप् + क्यप् कर्मणि) अर्थात् जो यत्न पूर्वक सँजोया जाय, रक्षित किया जाय वह 'गुप्य' है ('कुप्य' रूप निपातन या 'इर्रेगुलरिटी' से बन गया है अन्यथा धनार्थक न होने पर इसका रूप गोप्य बनेगा ण्यत् प्रत्यय लगाकर) जो कुप्य नही है वही अकुप्य है—न कुप्यम् अकुप्यम् हेमरूप्यात्मकम् (नञ् तत्पु०)। तो क्या सोना-चाँदी रक्षणीय पदार्थ नही? वस्तुत. अकुप्य शब्द यहाँ लाक्षणिक है। वास्तव मे सोना-चाँदी जमीन में गाडने की चीज नही बल्कि खुले-हाथ खर्च करने के लिए या दान देने के लिए हैं। अमरकोश देखे—'स्यात्कोशश्च हिरण्यञ्च हेमरूप्ये कृताकृते ताभ्या तदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमर। **वसु**—धनम्, सम्पत्ति को। **अयच्छत्**—दत्तवान्, दिया, समर्पित किया। दाण्धातु + लड्लकार प्रथमपुरुष, एकवचन। व्याकरण के नियमानुसार पा, घ्रा, ध्मा, स्था, म्न, दाण् दृशि, अर्ति, सर्ति, शद्, और सद् क्रियाओ के स्थान पर क्रमश· पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय एवं सीद आदेश हो जाता है। यहाँ दाण् के स्थान पर यच्छ हो गया है। **अधुना**—सम्प्रति, अब अर्थात् इस वनवास मे, अस्मिन् का इति अधुना (इदम् + ङि + धुना स्वार्थे) अव्ययपद है। **वल्कवासांसि**—वल्कल वस्त्रों को। वल्क या वल्कल का अर्थ है—पेड की छाल। 'त्वक् स्त्री वल्क वल्कलमस्त्रियाम्' इति अमरकोश·। जिससे तन ढँका जाय वही वासस् है—वस्यते

आच्छाद्यते अङ्गम् अनेन इति वासस् (वस् + असुन् करणे) बल्कानि एव वासासि इति बल्कवासासि (कर्मधारय)। आहरन् —उपनयन्, लाते हुये (आड् + हृ + शतृ, प्रथमैकवचन)। तव मन्युम् – तुम्हारे क्रोध को। कथ न करोति–किमिव नोत्पादयति अर्थात् क्यो नही उत्पन्न कर देता ? प्रस्तुत पद्य मे अनुप्रास के अनेक भेद (छेक, वृत्ति आदि) प्रयुक्त हैं।

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती,
कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ,
विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥३६॥

वनान्तेति। वनान्तो वनभूमिरेव शय्या तया कठिनीकृताकृती कठिनीकृतदेहौ। 'आकारो देह आकृति.' इति वैजयन्ती। विष्वक्समन्तात्। 'समन्ततस्तु परित: सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः। कचाचितौ कचव्याप्तौ। विशीर्णकेशावित्यर्थः। अत एवागजौ गिरिसम्भवौ गजाविव। स्थितावेतौ यमौ युग्मजातौ। माद्रीपुत्रावित्यर्थ। 'यमौ दण्डधरे ध्वाड्क्षे सयमे यमजेऽपि च' इति विश्व। विलोकयन् त्व कथ धृतिसयमौ सन्तोषनियमौ। 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः। बाधितु नोत्सहसे न प्रवर्तसे। 'शकधृष' इत्यादिना तुमुन्। अहो ते महद्धैर्यमिति भाव: ॥३६॥

श्लोकान्वय–वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती विष्वक् कचाचितौ अगजौ गजौ इव एतौ यमौ विलोकयन् त्व कथम् धृतिसयमौ बाधितुम् न उत्सहसे।

अनुवाद-वनस्थली मे शयन करने के कारण कठोर आकृति वाले, चारो ओर विशीर्ण केशो से युक्त, पर्वतीय गजराजो के समान इन जुडवे भाइयो को देखते हुए (भी) आप धैर्य तथा सयम त्याग देने के लिये क्यो नही उद्यत होते ?

भावार्थ—प्राणनाथ ! कस्याग्रत: विलपामि ? यौ कमलकोमलौ युग्मजौ नकुलसहदेवौ इन्द्रप्रस्थनगरे नागरावतसौ अभूता तावेव साम्प्रत पर्वतोत्पन्नौ गजराजाविव कान्तारवासकष्ट सहेते। हन्त भो, समन्तत. पर्याकुलमूर्द्धजौ वनभूमिशयनेन च कठिनीकृतशरीरौ तौ स्वानुजौ दर्श-दर्श भवान् कथ सन्तोषनियमौ परित्यक्तु नोत्सहते ? किमेतावदपि नाल भवत्सत्त्वोद्रेकाय ?

टिप्पणी – वनान्तशैय्याकठिनीकृताकृती—वनस्थली मे शयन करने के कारण कठोर आकृति वाले। वनस्य अन्त: इति वनान्त (षष्ठी तत्पु०), वनान्ते

शैय्या (सुप्सुपा) अथवा वनान्त एव शैय्या इति वनान्तशैय्या (कर्मधारयसमासः)। न कठिना इति अकठिना (नञ् तत्पु०) अकठिना कठिना कृता इति कठिनीकृता(कठिना + च्विप्रत्यय अभूततद्भावे + कृ + क्त कर्मणि + स्त्रियाम् टाप्) वनान्तशैय्यया कठिनीकृता इति वनान्तशैय्याकठिनीकृता (तृतीया तत्पु०), तादृशी आकृति. ययोस्तौ (बहुव्रीहि)। अमरकोष—अटव्यरण्य विपिन गहन कानन वनम्। हैमकोश—अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयो.। अवयवेऽपि। अमरकोश--शैय्याया शयनीयवत्-शयन मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्का. खट्वया समा। वैजयन्तीकोश—आकारा देह आकृतिः। विष्वक्—समन्तात्, चारो ओर। जो चतुर्दिकव्यापी हो उसे विष्वक् कहते है—विषु अञ्चति गच्छति इति विष्वक् (विषु + अञ्च् + क्विन्) 'चो' कुः' नियम से कुत्व। 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमर। कचाचितौ—कचव्याप्तौ अर्थात् केशसकुल। केशै आचितौ (आ + चि + क्त कर्मणि) इति कचाचितौ, तृतीया तत्पु०। 'चिकुरः कुन्तलो बालः कच. केश' शिरोरुह' इत्यमरः। अगजौ गजाविव—पर्वतीय हाथियो की भाँति। जो चल न सके उसे 'अग' कहते हैं तथा उसमे उत्पन्न हुए को अगज—न गच्छतीति अग. (नञ् + गम् + ड प्रत्यय) तस्मिन् जातौ अगजौ (अग + जन् + ड कर्त्तरि)। 'इव' औपम्यार्थक है। एतौ यमौ—इन जुडवाँ भाइयो को। महाराज पाण्डु की कनिष्ठ राजमहिषी माद्री ने नकुल तथा सहदेव को एक ही साथ जन्म दिया था, अतः इन्हे युग्मज या यमज (जुडवा) कहा जाता है। अमरकोश—यमो दण्डधरे ध्वाक्षे सयमे यमजेऽपि च। विलोकयन्—देखते हुए (वि + लोकि + लट् + शतृ प्रथमैकवचन)। त्व कथ धृतिसयमौ--(आपकैसे) सन्तोषनियमौ अर्थात् धैर्य एव आत्मनिग्रह को। धृतिश्च सयमश्चेति धृतिसयमौ (धृ + क्तिन् भावे, सम् + यम् + अप् भावे) द्वन्द्वसमासः। 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति कोष.। बाधितुम्--त्यक्तुम् छोडने के लिए (बाध + तुमुन्)। नोत्सहसे--न प्रवर्तसे, नही प्रवृत्त होते हो? उद् + सह लट् लकार, मध्यमपुरुष एकवचन।

'अगजौ गजौ' तथा 'धृतिसयमौ यमौ' मे यमक अलङ्कार है, लक्षण है-'अर्थे सत्यर्थभिन्नाना वर्णानां सा पुनः श्रुति. यमकम्' अर्थात् भिन्नार्थक वर्णों की पुनरावृत्ति (अर्थमयी होने पर) यमक होती है।

अथ राज्ञो दुर्दशा दर्शयितुमुपोद्घातमाहः--

इमामहं वेद न तावकीं धियं
विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः।
विचिन्तयन्त्या भवदापद परां
रुजन्ति चेतः प्रसभ ममाधयः ॥३७॥

इमामिति । इमां वर्त्तमाना, तव इमा तावकी त्वदीया 'तस्येदम्' इत्यण्-प्रत्ययः । 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेश । धिय त्वदापद्विषया चित्तवृत्ति-मह न वेद कीदृशी वा न वेद्मि । परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादिति भाव । 'विदो लटो वा' इति लटो णलादेश । न चात्मदृष्टान्तेनापन्नत्वाद् दु खितमनुमातु शक्यते । धीरादिष्वनै-कान्तिकत्वादत्याशयेनाह—चित्तवृत्तयो विचित्ररूपा धीराधीराद्यनेकप्रकारा: खलु (एव भवन्तीति शेष.) । किन्तु परामुत्कृष्टा भवदापद (त्वद्विपत्ति) । विचिन्तयन्त्या मम चेतश्चित्तम् । आधयो मनोव्यथा· 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः । प्रसभ प्रसह्य रुजन्ति भञ्जन्ति 'रुजो भङ्गे' इति धातोर्लट् । पश्यतामपि दु·सहा दु.खजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितार त्वा न विकरोतीति महच्चित्रमित्यर्थ. । चेत इति । 'रुजार्थाना भाववचनानामज्वरेः' इति षष्ठी भवति । तत्र शेषाधिकाराद् शेषत्वस्य विवक्षितत्वात् ।।३७।।

श्लोकान्वय—इमा तावकी धियम् अह न वेद । चित्तवृत्तयः विचित्ररूपाः खलु । पराम् भवदापदम् विचिन्तयन्त्या मम चेतः आधयः प्रसभ रुजन्ति ।

अनुवाद—आपकी इस (वर्तमान) बुद्धि को मैं नही समझ पा रही हूँ । चित्तवृत्तियाँ वास्तव मे विलक्षण रूपो वाली होती हैं । (तथापि) आपकी महती विपत्ति को बूझने में तल्लीन मुझ द्रौपदी के चित्त को मनोव्यथाएँ बलपूर्वक भग्न किये दे रही है ।

भावार्थ—न जानामि राजन् ! त्वदीया साम्प्रतिकी चित्तवृत्तिम् । निखिलमेव वैभव शत्रुभिरपहृतम्, कान्तारवसतिस्तावदुररीकृता । तथापि त्वया न किञ्चिदपि अवस्थावैपरीत्यमनुभूयते । कीदृशीय तावकी धीरित्यह न वेद्मि । चित्तवृत्तय· खलु विलक्षणरूपिण्यः भवन्ति इति निश्चप्रचमिदम् । दर्शं दर्शं तावकी महद् विपत्तिमनो मे व्यथयाऽतिक्राम्यते न च लभ्यते तिलमात्रमपि सौख्यम् ।

टिप्पणी—इमां तावकीं धियम्—तुम्हारी इस बुद्धि को । मल्लिनाथ 'इमाम्' का अर्थ करते हैं— वर्तमानाम्' । क्यो कि 'वर्तमान' शब्द से महाराज युधिष्ठिर की सशयापन्न किंवा अकर्मण्य बुद्धि का बोध होता है । तावकी का अर्थ है त्वदीय या तुम्हारी—तव इयम् इति तावकी, ताम् (युष्मद्+अण्+ङीप् स्त्रियाम् +अम्) । व्याकरण के नियमानुसार खञ् अथवा अण् प्रत्यय आगे रहन पर युष्मद् एव अस्मद् शब्द को एकवचन मे क्रमश. तवक + ममक आदेश हो जाता है । सूत्र है । तवकममकावेकवचने । इस प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ मे भी—युष्मद् + अण् = तवक + अण् + ङीप् = तावकी रूप बनेगा । अण् प्रत्यय यहाँ 'तस्येदम्' नियम से हुआ

है। जिसके द्वारा चिन्तन-ध्यान किया जाय वह 'धी' है—ध्यायते अनया इति धी ताम् (ध्यै + क्विप् करणे)। बुद्धिर्मनीषा धिषणा धी· प्रज्ञा शेमुषी मति. इत्यमरः। अहं न वेद—अहं न जानामि अर्थात् मैं नहीं जानती। 'वेद'—विषयक टिप्पणी श्लोक २० में देखे--'स वेद नि शेषमशेषित क्रियः।' चित्तवृत्तय.--चित्तव्यापारा, मन की वृत्तियाँ। चित्तस्य वृत्तयः इति चित्तवृत्तय· (षष्ठी तत्पु०) 'वृत्तिर्वार्ता वृत्तमपि' इत्यमर· 'चित्त तु चेतो हृदयम्' इत्यपि अमरः। विचित्ररूपाः—विविधरूपा· अर्थात् अत्यधिक विलक्षण। विशेषेण चित्रा इति विचित्रा (प्रादितत्पु०), अतिशयेन विचित्राः इति विचित्ररूपाः (विचित्र + प्रशसाया रूपप्) अथवा विचित्र रूप यासा ता विचित्ररूपाः (बहुव्रीहि-समास)। खलु—निश्चित रूप से। निश्चय अथवा वाक्यालङ्कार के सन्दर्भ में प्रयुक्त होने वाला एक अव्ययपद। परां भवदापदम्—महती त्वदापत्तिम्। आपकी महती विपत्ति को। भवत आपद् इति भवदापद् ताम् भवदापदम् (षष्ठी तत्पुरुषः)। परा (पर + टाप्) का अर्थ है महती। 'विपत्त्या विपदापदौ' इत्यमरः। विचिन्तयन्त्या.--ध्यायन्त्याः, सोचती रहने वाली ('मम' का विशेषण) वि + चिन्त् + णिच् + शतृ + ङीप् स्त्रियाम् + षष्ठी एकवचन। मम चेतः—मेरे मन को। आधय—मनोव्यथाये। 'आधि' का अर्थ है मानसिक अथवा दैवप्रदत्त कष्ट। 'पुस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमर.। प्रसभम् रुजन्ति—बलात् व्यथयन्ति, बलपूर्वक व्यथितकिये दे रही हैं। रुजन्ति—रुजोभङ्गे (तुदादि.) लट् लकार, प्रथम- पुरुष, बहुवचन।

प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्ध में प्रथमपक्तिगत विशेषकथन का समर्थन द्वितीयपक्ति-गत सामान्यकथन से किया गया है, फलतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

तदादमेव श्लोकत्रयेणाह :—

पुराधिरूढः शयनं महाधनं,
विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं,
जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ॥३८॥

पुरेति। यस्त्वं महाधन बहुमूल्य श्रेष्ठम्। 'महाधन महामूल्यं' इति विश्वः। शयन शय्यामधिरूढः सन्। स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तै. स्तुतिगीतिमङ्गलैः करणभूतैः पुरा। विबोध्यसे वैतालिकैरिति शेषः। पूर्वं बोधित इत्यर्थः। 'पुरि लुङ्

चास्मे' इति भूतार्थे लट् । स त्वमदभ्रदर्भा बहुकुशाम् । 'अस्त्री कुश कुथो दर्भः' इति । 'अदभ्र बहुल बहु' इति चामरः । स्थलीमकृत्रिमभूमिम् । 'जानपद' इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीष् । एतेन दुःसहस्पर्शत्वमुक्तम् । 'अधिशीङ्स्थासा कर्म' इति कर्मत्वम् । अधिशय्य शयित्वा । 'अययि क्ङिति' इत्ययङादेशः । अशिवैरमङ्गलैः शिवारुतै क्रोष्टुवासितै. 'शिवा हरीतकी क्रोष्ट्री शमी नद्यामलक्युभे' इति वैजयन्ती । निद्रा जहासि । अद्येति शेषः ।।३८।।

श्लोकान्वय—यः (त्वम्) महाधनम् शयनम् अधिरूढः स्तुतिगीतिमङ्गलैः पुरा त्रिबोध्यसे, सः अदभ्रदर्भाम् स्थलीम् अधिशय्य अशिवै शिवारुतै निद्राम् जहासि ।

अनुवाद-बहुमूल्य शय्या पर शयनकरते हुए जो आप पूर्वकाल मे माङ्गलिक स्तुतिगीतियो से जगाये जाते थे वही आप (अब) कुशकण्टको से भरी वन्य-भूमि पर सोते हुए, स्यारिनो की अमङ्गलकारिणी बोलियाँ सुनकर निद्रात्याग करते हैं ।

भावार्थ-प्राणनाथ ! भाग्यविपर्ययेण किन्न सोढ भवता । इन्द्रप्रस्थनगरमध्युष्य निखिलमेव स्वार्गिक सौख्य प्रत्यक्षीकृतम् । तस्मिन्काले विविधमणिरत्नजटितां महार्घां शैय्यास्थलीमधिरूढस्सन् भवान् समागत एव प्रत्यूषकाले चारणव्रातै स्तुतिगीतिमङ्गलैः विगतनिद्रोऽस्ति कृत. । हन्त ! स एव त्व साम्प्रत कुशकण्टकैः परिव्याप्ता कान्तार-भूमिमधिशय्य शिवानामशुभैः हुङ्कारै निद्रामवमुञ्चसि । एवमनुभवन्नपि न मनागपि क्षुब्धो दृश्यस इति महच्चित्रमिदम् ।

टिप्पणी—यः (त्वम्) जो आप । 'यः' का सकेत वनवास के पूर्व इन्द्रप्रस्थन-गराधीश के रूप मे समस्त सुखभोग करने वाले राजा युधिष्ठिर की ओर है । महा-धन शयनम्—बहुमूल्या शैय्याम्, अर्थात् अत्यन्त मूल्यवती, श्रेष्ठ शैय्या पर । महत् धन यस्य तत् महाधनम् (बहुव्रीहि) महत् का 'महा' रूप हो गया है । विश्वकोश का प्रमाण 'महाधन महामूल्ये ।' शयन का अर्थ है शैय्या । जिस पर सोया जाय, वही 'शयन' है—शय्यते अस्मिन्निति शयनम् (शीङ् + ल्युट्अधिकरणे) यह शब्द 'अधिरूढः' का कर्म है ('अधिशीङ्स्थासा कर्म' १।४।४६ के अनुसार अधि उपसर्ग के साथ शीङ्, स्था तथा आस् धातु का आधार कर्मकारक होता है) । अधिरूढः—आरुह्य सुप्तः अर्थात् सोए हुये (अधि + रुह् + क्त कर्त्तरि) । स्तुतिगीतिमङ्गलैः-स्तुतिगान रूपी माङ्गलिक वचनो से । स्तुतीना गीतयः इति स्तुतिगीतयः (षष्ठी तत्पु०) अथवा स्तुतयश्च (स्तु + क्तिन् भावे, प्रथमा बहुवचन) गीतयश्च (गै + क्तिन् भावे, प्रथमा बहुवचन) स्तुतिगीतयः (द्वन्द्वसमास), ता एव मङ्गलानि तै· (कर्मधारयसमासः) । प्रचीन काल मे भूपतियो को जगाने के लिए चारण या बन्दीजन ब्रह्मवेला मे ही गायन प्रस्तुत करते थे । रामचरितमानस मे गोस्वामी जी

ने लिखा है—बिलपत नृपति भयउ भिनुसारा। बीना बेनु सखधुनि द्वारा ।। पढहिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपति जनु लागहिं सायक ।। (अयोध्याकाण्ड) पुरा—पूर्वस्मिन् काले अर्थात् पूर्वकाल मे (भूतकाल के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाला एक अव्ययपद)। विबोध्यसे—वीतनिद्र क्रियसे अर्थात् विनिद्र किये जाते थे, जगा दिये जाते थे। यह कर्मवाच्य का प्रयोग है—वि + बुध् + णिच्। लट् लकार, मध्यमपुरुष एकवचन। वस्तुत लट् लकार (वर्तमानकाल) का यह प्रयोग अनद्यतन भूतकाल के अर्थ मे हुआ है। सूत्र है—'पुरिलुङ् चास्मे' अर्थात् यदि 'स्म' का प्रयोग न विहित हो तो 'पुरा' के योग मे लुङ् तथा लट् (लकार) का प्रयोग अनद्यतनभूत के अर्थ मे होता है। सः (त्वम्)—वही तुम। अदभ्रदर्भाम्—कुशबहुलाम् अर्थात् कुशो से परिव्याप्त। अदभ्र का तात्पर्य है बहुल होना, अधिक। अदभ्र बहुल बहु इत्यमरः। जिस स्थान मे अत्यधिक कुश हो उसे 'अदभ्रदर्भा' कहेगे। यह शब्द स्थली का विशेषण है—अदभ्राः दर्भाः अस्याम् इति (बहुव्रीहिः), ताम्। स्थलीम्—अकृत्रिमभूमिम् अर्थात् दुस्सहस्पर्शवाली, साफ-सुथरी न बनाई वन्यभूमि पर। 'अधिशय्य' मे प्रयुक्त 'अधि' उपसर्ग के कारण 'स्थली' मे द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। अधिशय्य—सुप्त्वा, सोते हुए या सो कर। अधि + शीङ् + ल्यप् प्रत्यय। अशिवैः शिवारुतैः—अमङ्गलकारिभिः शृगालीशब्दैः। अमङ्गलजनक स्यारिनो के शब्दो द्वारा। 'शिव' का अर्थ है कल्याण या मङ्गल। यह शब्द सज्ञा और विशेषण दोनो है। स्वः श्रेयस शिव भद्र कल्याण मगल शुभम् इत्यमरः। शिवा का अर्थ है शृगाली और 'रुतम्' का तात्पर्य है बोली। अमरकोश देखे—स्त्रिया शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः इत्यमरः। इस प्रकार–न शिवानि इति अशिवानि तै (नञ् तत्पु०)। शिवाना रुतानि इति शिवारुतानि तैः शिवारुतैः (षष्ठी तत्पुरुष)। निद्रां जहासि—स्वाप परित्यजसि, नीद छोडते हो। 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि'। इत्यमरः।

पुरोपनीतं नृप रामणीयकं
द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं
परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः ॥३९॥

पुरेति। हे नृप, यदेतत्पुरोवर्ति वपुः पुरा द्विजतिशेषेण द्विजभुक्तावशिष्टेनान्धसान्नेन। 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः। रमणीयस्य भावो रामणी-

यक मनोहरत्वमुपनीत प्रापितम् । नयतेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि क्त. । 'प्रधान-कर्मण्याख्ये ये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात् । अद्य वन्यफलाशिनस्ते तव तद्वपुर्यशसा सम परमतिमात्र कार्श्य परैति प्राप्नोति उभयमपि क्षीयत इत्यर्थ । अत्र सहोक्तिरलङ्कारः । तदुक्त काव्यप्रकाशे—'सा सहोक्ति. सहार्थस्य बलादेक द्विवाचकम्' इति ।।३६।।

श्लोकान्वय-हे नृप ! यत् एतत् ते वपु पुरा द्विजातिशेषेण अन्धसा रामणीयकम् उपनीतम् अद्य वन्यफलाशिन ते तत् यशसा सम परं कार्श्यं परैति ।

अनुवाद—राजन् ! जो यह तुम्हारा शरीर पहले ब्राह्मणो के उच्छिष्ट अन्न (का भक्षण करने) से रमणीयता को प्राप्त हो गया था, आज वन्यफलाहारी आपका वही शरीर (आपके) यश के साथ (ही) अत्यधिक क्षीणता को प्राप्त हो रहा है ।

भावार्थ—राजन् ! प्रख्यातमासीत्तवातिथ्यकर्म त्रिषु लोकेषु । इदञ्च तव शरीर द्विजातिशेषेण भक्ष्यान्नेन परमरमणीयतामुपगतमासीत्। किन्तु तदेव त्वदीय शरीर सम्प्रति कान्तारलब्धानि यानि कान्यपि फलानि स्वोदरपूरणायैव भक्षयित्वा तथैव अतिमात्र कृशत्वमुपयति यथा खलु तव यश । ईदृशी खलु ते महती विपत्तिः ।

टिप्पणी—हे नृप !—हे राजन् (सम्बोधन पद) । यत् एतत् ते वपु.—यत् पुरोवर्ति दृश्यमान तव शरीरम्, अर्थात् समक्ष दृश्यमान जो यह तुम्हारा शरीर । पुरा—प्राक्, पूर्वकाल मे, पहले । स्यात्प्रबन्धे चिरातीते निकटागामिके पुरा इत्यमर· । द्विजातिशेषेण—ब्राह्मणोच्छिष्टेन, अर्थात् ब्राह्मणो के खाने से बचे हुए (अन्न द्वारा) । द्विजाति का सामान्य अर्थ यज्ञोपवीत धारण करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य—इन तीन वर्गों से है परन्तु प्रस्तुत सदर्भ मे इसका विशिष्ट अभिप्राय है—ब्राह्मण । सस्कार हीन ब्राह्मण को मनु शूद्र' की सज्ञा देते है और सस्कारयुक्त को 'द्विज' की । इस प्रकार ब्राह्मण की दो जाति हुई—द्वे जाती येषा ते द्विजातय. (बहुव्रीहिः) तेषा शेषेण (शिष् + घञ् कर्मणि + टा) इति द्विजातिशेषेण । मनु का प्रमाण—जन्मना जायते शूद्र· सस्कारैर्द्विज उच्यते । वेदपाठात् भवेद् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मण ।। दन्तविप्राण्डजा द्विजा इत्यमरः । अन्धसा—अन्नेन, अन्न द्वारा, अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया । भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम् इत्यमर. । रामणीयकम्-मनोहरत्वम्, रमणीयता को । रमणीय होने के भाव को 'रामणीयक' कहते हैं—रमणीयस्य (रम् + णिच् + अनीयर् + कर्त्तरि बाहुलकात्, षष्ठी विभक्ति) भाव: रामणीयकम् (रमणीय + वुञ् प्रत्यय) । उपनीतम्—प्रापितम, प्राप्त

करा दिया गया था। उप + नी + क्त कर्मणि। अद्य—साम्प्रतम्, आज अर्थात् वनवास की इस अवधि मे। वन्यफलाशिनः—वन्यफलभोजिनः जगली फल खाने वाले आपका। जो वन मे उत्पन्न हो उसे 'वन्य' कहेगे—वने भव वन्यम् (वन + यत्) वन्य फलम् इति वन्यफलम् (कर्मधारयसमास), तत् अश्नाति इति वन्यफलाशी (वन्यफल + अश् + णिनि कर्तरि), तस्य। ते तत् वपु:-तुम्हारा वही शरीर। यशसा-सम-कीर्त्या सह, यश के साथ-साथ। 'सह' का अर्थ देने वाले शब्दो के योग मे अप्रधान मे तृतीया होती है। सूत्र है-'सहयुक्तेऽप्रधाने'। परं कार्श्यम्-अतितनुताम्, अत्यन्त कृशता को (कृश् + क्त = कृश:,तस्य भाव. कार्श्यम् = कृश + ष्यञ्) परैति—उपयाति, प्राप्त हो रहा है।

प्रस्तुत पद्य मे सहोक्ति अलकार है। सहोक्ति वहाँ होती है जहाँ एक अर्थ को बताने वाला पद 'सह' शब्द के बल पर दो अर्थों का बोधक हो जाय। प्रस्तुत पद्य मे भी शारीरिक कृशता मूलत एक ही अर्थ प्रस्तुत करती है परन्तु 'सह' शब्द का प्रयोग होने से वह 'यश कृशता' का भी भाव व्यक्त करती है। काव्यप्रकाशकार ने इसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेक द्विवाचकम्।'

अनारत यौ मणिपीठशायिना-
वरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते
मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥४०॥

अनारतमिति। अनारतम् अजस्र मणिपीठशायिनौ मणिपीठस्थितौ यौ। चरणौ। राजशिरःस्रजा नमद्भूपालमौलिस्रजा रजः परागः अरञ्जयत् तौ ते चरणौ मृगै द्विजैश्च तपस्विभि. आलूनशिखेषु छिन्नाग्रेषु बर्हिषा कुशाना 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः। वनेषु काननेषु निषीदतः तिष्ठतः ॥४०॥

श्लोकान्वय—अनारत मणिपीठशायिनौ यौ ते चरणौ राजशिर.स्रजा रजः अरञ्जयत् तौ मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषा वनेषु निषीदत।

अनुवाद-निरन्तर रत्नपीठ पर रहने वाले आपके जिन चरणो को भूपतियो के शिरोमाल्य की परागधूलि रञ्जित कर देती थी वही (आपके चरण) हरिणो एव तपोधनो द्वारा कुतरे गये अग्रभाग वाले कुशो के वनो मे पड़ रहे हैं।

भावार्थ-राजन् ! किन्न स्मरति भवान् स्वकीयं पूर्ववैभवम् ? चतुरुदधिमेखलां पृथ्वीं परिपालयतश्चक्रवर्तिनस्तव चरणकमले सततमेव मणिखचितपादपीठस्थिते बभूवतुः । अथ च प्रणामार्थं नमद्भूपालमौलिमालानां परागपुञ्जैः रञ्जिते आस्ताम् । प्रियतम ! तावेव चरणौ साम्प्रतं हरिणादिभिः वन्यजीवैः तपोधनैश्च छिन्नाग्रभागानां कुशानां वनेषु निषीदतः इति दर्शं दर्शं मनो मे विकलीभवति ।

टिप्पणी—अनारतम्--सततम्, निरन्तर । सततानारताश्रान्तसन्ततविरताऽनिशम् इत्यमरः । मणिपीठशायिनौ—रत्नफलकस्थितौ अर्थात् मणिखचित पादपीठ पर शयन करनेवाले, रहनेवाले । मणिनिर्मितं पीठम् इति मणिपीठम् (शाकपार्थिव आदि की भाँति मध्यमपदलोपी समास) मणिपीठे शयाते इति मणिपीठशायिनौ (मणिपीठ + शीङ् + णिनि कर्त्तरि) अमरकोश—रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च पीठमासनमस्त्रियाम् । यौ ते चरणौ—आपके जिन दो चरणों को ! 'यौ' का अभिप्राय है महाराज युधिष्ठिर के वे दो ऐश्वर्यशाली चरण जिन पर समस्त नृपतिगण झुकते थे । 'पादाग्रं प्रपदं पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । राजशिरःस्रजां रजः—नमद्भूपालमौलिमाल्यानां परागः अर्थात् प्रणामनिवेदनार्थ झुके हुए नरपतियों की शीर्षस्थ मालाओं की परागधूलि । राज्ञां शिरांसि इति राजशिरांसि (षष्ठीतत्पु०), राजशिरसां स्रजः इति राजशिरःस्रजः (षष्ठी तत्पु०), तासां रजः परागधूलिः । 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांशुर्ना न द्वयोः रजः' इत्यमरः । अरञ्जयत्—रँग देती थी (रञ्ज् + णिच् + लङ् प्रथमपुरुष एकवचन) । तौ—वही आपके (ऐश्वर्यसम्पन्न) चरण । मृगद्विजालूनशिखेषु—मृगों अर्थात् हरिणादि वन्यपशुओं तथा द्विजों (तपस्वियों) द्वारा आलून (छिन्न किए गए) शिखरों वाले (कुशवनों में) । 'आलून' का अर्थ है छिन्न कर दिया जाना—आ + लू क्र्यादिगणी + क्त कर्मणि स्त्रियाम् । 'द्विज' का अर्थ है तपस्विजन, ब्राह्मण (द्वि + जन् + ड कर्त्तरि) पूरी व्याख्या देखें—मृगाश्च द्विजाश्च इति मृगद्विजाः (द्वन्द्वसमासः) तैः आलूनाः मृगद्विजालूनाः (तृतीया तत्पु०) तादृश्यः शिखाः येषु तेषु (बर्हिषां वनेषु) बहुव्रीहिसमासः । बर्हिषां वनेषु—कुशानां काननेषु । 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः । निषीदतः—तिष्ठतः, अवस्थित हो रहे हैं । नि+सद् +लट् प्रथमपुरुष द्विवचन ।

ननु सर्वप्राणिसाधारण्यामापदि का परिदेवनेत्याह :—

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः
समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।

परैरपर्य्यासितवीर्य्यसम्पदां

पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥४१॥

द्विषदिति। यद्यतः कारणादियं दशावस्था । "दशावर्ताववस्थायाम्" इति विश्वः। द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा द्विषन्निमित्ता शत्रुकृता। द्विषोऽमित्रे इति शतृ प्रत्ययः। ततः मे मनः समूलं साशयमुन्मूलयतीवोत्पाटयतीव। दैविकी त्वापन्नदु.-खायेत्याह—परैरिति। परैः शत्रुभिरपर्यासिताऽपर्यावर्तिता वीर्यसम्पत् येषां तेषां मानिनां पराभवो विपदप्युत्सव एव इति वैषम्येणार्थान्तिरन्यासः। मानहानिर्दुःसहा न त्वापदिति भावः।

श्लोकान्वय—यत् इयं दशा द्विषन्निमित्ता, ततः मे मनः समूलम् उन्मूल-यतीव। परैः अपर्य्यासितवीर्य्यसम्पदाम् मानिनाम् पराभवोऽप्युत्सव एव।

अनुवाद—चूँकि (आपकी) यह दुरवस्था शत्रुओं के कारण हुई है (बस) इसीलिये मेरे चित्त को समूल उन्मूलित सी किये दे रही है। शत्रुओं द्वारा अपराभूत शौर्य-सम्पत्ति वाले मनस्वीपुरुषों के लिये पराभव भी उत्सव के ही समान है।

भावार्थ—राजन्! विपत्तिग्रस्तो भवान् इति नेदं मदन्तरदहनकारणम्। भाग्यपङ्क्तिस्तु चक्रारपङ्क्तिरिव आयाति यात्येव। तत्र का परिदेवना? किन्तु नेयं भावत्की विपत्तिः दैवप्रदत्ता न च पूर्वकृतापराधजन्या। त्रैलोक्यविश्रुतैः प्रचण्डपरा-क्रमैः भीमार्जुनादिसदृशैः बन्धुगणैस्समुपेतस्सन्नपि धर्मराजो भवान् शत्रुकृतां विपत्तिं सहते। सत्यपि क्षात्रतेजसि भिक्षावृत्तिमवलम्ब्य क्लैब्यमुपगतोऽस्ति इत्यस्मादेव कारणात् चित्तं मे समूलं उन्मूलयति इव। येषां वीरपुरुषाणां वीर्य्यसम्पत्तिः शत्रुभिर्नापहृता तेषां कृते तु विपत्तिरपि महोत्सवतुल्यैव किन्तु अरात्यपहृतवीर्य्याणां कृते मनागपि विपत्तिः साक्षान्नरकयातनैव।

टिप्पणी—यत्—यत, यस्मात् कारणात्। चूँकि। यह एक अव्ययपद है। इयं दशा—इयमवस्था, यह वर्तमान दुर्दशा। 'दशावर्त्तौ अवस्थायाम्' इति विश्वः। द्विषन्निमित्ता—शत्रुकृता। द्विषद् अर्थात् शत्रु है निमित्त या कारण जिसमे ऐसी (दशा)। द्विषन्त निमित्तम् अस्याः सा द्विषन्निमित्ता (बहुव्रीहि)। निमित्त का अर्थ है —कारण—'निमित्तं हेतुलक्षणोः' इत्यमरः। द्विषत् की व्याख्या २७ वें पद्य मे देखें--निशम्य सिद्धिं द्विषताम् आदि। ततः-तस्मात् कारणात्, इसीलिये अथवा बस उसी कारण से (अर्थात् यदि दैवयोग से आप वनवासी हो गये होते तो मुझे कतई न

अखरता किन्तु चूँकि आप शत्रुओ द्वारा वन मे खदेडे गये है, पराक्रमसम्पन्न होते हुए भी—बस यही नही सहा जाता)। मे मनः—मम चितम् अर्थात् मेरा मन। **समूलम्**— निःशेषम्, पूर्णरूप से, जड सहित। मूलेन यह वर्तमानम् इति समूलम् (बहुव्रीहिः) तत् यथा स्यात्तथा, क्रियाविशेषणम्। 'वोपसर्जनस्य' सूत्र से यहाँ वैकल्पिक रूप से 'सहमूलम् रूप भी बनेगा। **उन्मूलयति इव**-उत्पाटयति इव। मानो उखडा जा रहा है। उत्+मूल+णिच् (चुरादिगणी)+लट् प्रथम एकवचन। **परैः**—शत्रुभिः, शत्रुओ द्वारा। 'परो दूरान्यश्रेष्ठशत्रुषु' इति हैम। **अपर्यासितवीर्यसम्पदाम्**—अप्रतिहतशौर्यधनानाम्। अपर्यासित, अविनष्ट है वीर्यसम्पत्ति जिनकी। परि +अस् दिवादिगणी क्षेपे+णिच् +क्त कर्मणि स्त्रियाम्=पर्यासिता। न पर्यासिता इति अपर्यासिता (नञ् तत्पु०), तादृशी वीर्यसम्पत् (वीरस्य भाव वीर्यम् वीर+ष्यञ्, तस्य सम्पत् इति वीर्यसम्पत्, षष्ठी तत्पु०) एषामिति अपर्यासितवीर्यसम्पदाम् (बहुव्रीहिसमासः)। **मानिनाम्**—मनस्विनाम् अर्थात् मनस्वी पुरुषो के लिये। मान का अर्थ है आदर, जो मान से युक्त है, वह मानी है—मान् (पूजायाम्)+घञ् भावे=मान। स अस्ति एषामिति मानिन (मान+ इनि मत्वर्थे, प्रथमा बहु०) तेषां मानिनाम्। **पराभवोऽपि**—विपदपि, पराजय अथवा विपत्ति भी। 'पराभवः परिभव. पराजय इतीर्यते' इत्यमर। **उत्सव एव**—हर्षास्पदमेव, उत्सव ही है। अथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सव' इत्यमर।

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः,
प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः,
शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥४२॥

विहायेति हे नृप। शान्ति शम। विहाय तत्प्रसिद्ध धाम तेजो विद्विषा वधाय पुन. सन्धेह्यङ्गीकुरु प्रसीद प्रार्थनाया लोट्। ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्यत्राह—व्रजन्तीति। नि.स्पृहाः मुनयः शमेन क्रोधवर्जनेन सिद्धि व्रजन्ति। भूभृतस्तु शत्रून् अवधूय निर्जित्य। कैवल्यकार्यवद्राजकार्यं न शान्तिसाध्यमित्यर्थ.।

श्लोकान्वय—हे नृप शान्ति विहाय तत् धाम विद्विषा वधाय पुन' सन्धेहि। प्रसीद। नि स्पृहाः मुनयः शत्रून् अवधूय शमेन सिद्धि व्रजन्ति, भूभृतो न।

अनुवाद—महाराज! शम का परित्याग करके (अपने) उस प्रख्यात तेज को, शत्रुविनाशार्थ पुनः धारण कीजिए! प्रसन्न हो जाइए। निष्काम भावना वाले

तपस्वीजन (ही कामादि) शत्रुओ पर विजय प्राप्त करके शमवृत्ति द्वारा सिद्धि प्राप्त करते है, नृपतिगण नही ।

भावार्थ—राजन् ! कोऽय भवतो व्यामोह ? क्षात्रधर्मपरायणोऽपि भवान् निष्कारणमेव तपस्विजनवृत्तिमवलम्बते ? किमिदमेव समुचित वर्तते भरतव शावत-सस्य भवत ? स्वामिन् प्रसीद । कर्णातिथीक्रियता मद्वचन तावत् । शत्रुजनविनाशाय स्वकीय तत् प्रसिद्ध तेजः पुनः स्वीकरोतु भवान् ! प्रनष्टा च भवतु सा शमवृत्तिः यया खलु इदम् अवस्थान्तरमुपनीतोऽसि । नेय भूपालाना परिपाटी यत्ते शत्रुभयेन आत्मान कान्तारप्रदेशे निगूह्य निवसन्तु । प्रसह्य मृगराजःक्रमणमेव तेषामलङ्करणम् । राजन् ! निष्कामास्तपस्विन एव कामादिशत्रून् निर्जित्य शमवृत्त्या सिद्धि भजन्ते न खलु पृथ्वीपतयः ।

टिप्पणी—हे नृप—हे राजन् (सम्बोधनपद) । शान्ति विहाय—शमम् अपहाय, शमवृत्ति को छोड करके । शान्ति (शम्धातु, शाम्+क्तिन् भावे) का अर्थ है चुप्पी साधलेना, तितिक्षा का आश्रय लेना । विहाय (वि+हा+क्त्वा ल्यप्) का अर्थ है छोड कर । 'शमथस्तु शम शान्तिः' इत्यमर. । तत् धाम—प्रसिद्ध तेजः अर्थात् उस प्रख्यात तेजस को (जिसे आपने अपने वैभव के दिनो मे धारण किया था । राजसूययाग आदि अवसर इसी प्रकार के थे) धाम का अर्थ है तेज या पराक्रम 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमर. । विद्विषां वधाय—शत्रूणा विनाशाय अर्थात् शत्रुजनो का विनाश करने के लिए । 'विद्विषाम्' की व्याख्या श्लोक ३३ मे देखे (न विद्विषादरः) 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन' सूत्र से 'वधाय' मे चतुर्थी विभक्ति हुई है । 'वधः' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—हन् धातु+अप् भावे । ज्ञातव्य है कि इस प्रसङ्ग मे हन् को 'वध् आदेश हो जाता हैं 'हनश्च वध ' सूत्र से । इसी शब्द का चतुर्थी एकवचन का रूप । पुनः सन्धेहि—भूय. स्वीकुरु, पुन. धारण कीजिए । सम्+धा+लोट्लकार, मध्यमपुरुष एकवचन । प्रसीद—प्रसन्नो भव प्रसन्न या अनुकूल हो जाइये । प्र+सद्+लोट्लकार, मध्यमपुरुष एकवचन । निःस्पृहाः-मुनयः—निष्कामास्तपस्विनः अर्थात् निरीह ऋषि-मुनि ही । निरस्ता. दूरीभूताः स्पृहा. आकाक्षा. येषा ते निस्पृहा. (बहुव्रीहिः) स्पृहा का अर्थ है इच्छा । अमर-कोश देखे—'इच्छाकाक्षा स्पृहेहातृड्वाञ्छालिप्सामनोरथः' । शत्रून्—कामादिकान् षड्रिपून् अर्थात् काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद एव मात्सर्य इन छः शत्रुओ को अवधूय-निर्जित्य, जीत करके, निरस्त करके (अव+धू+ल्यप्) । शमेन--शमवृत्त्या, शान्ति या तितिक्षा द्वारा । शम का अर्थ है, निरीहावस्था का आत्मसुख अथवा विषयविहीन मनोनिग्रह । शास्त्रो में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—'शमो निरीहावस्था-

याम् स्वात्मविश्रामज सुखम्' अथवा 'शमस्तावत् श्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। सिद्धिं व्रजन्ति--साफल्य भजन्ते। सिद्धि को, सफलता को प्राप्त करते हैं। सिद्धि (सिध् + क्तिन् भावे) का अर्थ है सफलता—'सिद्धिस्तु मोक्षे निष्पत्तियोगयो.' इति हैमः। वस्तुतः यहाँ सिद्धि शब्द उभयार्थक है। राजा के पक्ष मे इसका अर्थ है- 'सार्वभौम अधिकार' तथा मुनि के पक्ष मे 'मोक्ष या मुक्ति'। भूभृतो न--भूपाला न अर्थात् नृपतिगण (शर्मवृत्ति से सिद्धि) नही प्राप्त करते हैं। उनका साधन तो है— 'प्रत्याक्रमण'। वे अपने तेज या पौरुष से अपनी सिद्धि (चक्रवर्तिता) प्राप्त करते है।

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः
सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिम्,
निराश्रया हन्त हता मनस्विता ॥४३॥

पुर इति। किं च धामवता तेजस्विनाम्। परनिकारासहिष्णूनामित्यर्थ.। पुर सरन्तीति पुर सरा अग्रेसरा। 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्ते.' इति टप्रत्यय। यशोधना भवादृशाः सुदु सहमतिदु.सहमीदृशमुक्तप्रकार पराभव प्राप्य रतिं सन्तोषमधिकुर्वते स्वीकुर्वते चेत्तर्हि। हन्त इति खेदे। मनस्विताऽभिमानिता निराश्रया सती हता तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्वितायाः इत्यर्थ·। अत पराक्रमितव्यमिति भावः। यद्यप्यत्र प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वात्करोते· 'अधे· प्रसहने' इत्यात्मनेपद न भवति। 'प्रसहन परिभव.' इति काशिका। तथाऽप्यस्याकर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रयोजकत्वाकर्त्रभिप्राये 'स्वरितञितः—' इत्यात्मनेपद प्रसिद्धम् ॥४३॥

श्लोकान्वय—धामवतां पुरःसराः यशोधनाः भवादृशा ईदृशम् सुदुःसहम् निकारम् प्राप्य रतिम् अधिकुर्वते चेत्, हन्त मनस्विता निराश्रया (सती) हता।

अनुवाद—तेजस्वियो मे अग्रगण्य, यशोधन आप जैसे लोग यदि इस प्रकार के अत्यन्त दुस्सह अपमान को प्राप्त करके सन्तोष कर लेते हैं तो खेद है कि मनस्विता आश्रयविहीन होकर विनष्ट हो गई।

भावार्थ—कार्यार्थी मनस्वी दुःख सुखञ्च न गणयति। पशुविहगा अपि स्वसपत्नपराक्रम न सहन्ते किम्पुन शौर्यसम्पन्ना मानवाः। राजन्! न खलु भवान् दीनोऽसहाय। स्वगुणमहिम्ना यैर्निखिलमेव जगत् यशोधवल कृतं भुवनविदिते तस्मिन्नेव विधुवशें भवज्जन्म जातम्। अग्रगण्योऽस्ति नाथ! तेजस्विनाम्.मतिमताञ्च। यदि एव विधा अपि मनस्विपुङ्गवाः सुदुस्सह शत्रुकृतापमानं प्रतारणाञ्च समवाप्य सन्तोषमेव स्वीकुर्वन्ति तर्हि हन्त! वराकी मनस्विता विधवा सीमन्तिनीव निरवलम्बा सती नाममात्रावशेषा भविष्यति।

टिप्पणी—धामवताम्—तेजस्विनाम् अर्थात् तेज सम्पन्न पुरुषो के । धाम का अर्थ है—तेज । तेजस्वी पुरुष कभी भी पराधीन नही रह सकता । कालिदास ऐसे पुरुषो के विषय मे कहते है—'तेजस्विना हि न वयः समीक्ष्यते ।' आचार्य मल्लिनाथ 'धामवान्' की व्याख्या करते है—'परनिकारासहिष्णु ' अर्थात् दूसरो के द्वारा किये गए अपमान को न सहने वाला । विश्वकोश देखे—'धाम शक्तौ प्रभावे च तेजोमन्दिरजन्मसु ।' धाम अस्ति एषामिति धामवन्तः, (धामन् + मतुप् + प्रथमाबहु०) तेषाम् । यद्यपि इस प्रक्रिया से रूप बनना चाहिए 'धाममन्त ' किन्तु मतुप् के मकार को यहाँ वकारादेश हो गया है । नियम है कि 'म' तथा 'अत्' से अन्त होने वाले और 'म' अथवा अत्' उपधा वाले शब्दो के बाद यदि 'मतुप्' प्रत्यय आए तो म के स्थान पर व हो जाता है यवादि-गण के शब्दो को छोडकर । सूत्र है—'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य ' । यहाँ धामन् (अदुपध) के पश्चात् मतुप् आया है, अतः वकार हुआ । पुर सराः—अग्रेसराः अग्रगण्य, प्रमुख । 'पुर सरा अग्रगण्या॰ धुरीणाश्च पुरोगमाः' इत्यमरः । 'पुरस्' पूर्व के स्थान पर प्रयुक्त उसी अर्थ का द्योतक एक शब्द है । अस् परे रहने पर पूर्व, अधर तथा अवर के स्थान पर क्रमशः पुर्, अध तथा अवस् आते है । व्याकरण का सूत्र है—'पूर्वाधरावराणामसि पुराधावश्चैषाम्' इस प्रकार 'पुरस्' का अर्थ होता है समक्ष या आगे—पूर्व + ङि (सप्तमी विभक्ति) + असि स्वार्थे = पुर् + अस् = पुर॰ । सृ धातु का प्रयोग प्रयाण के अर्थ मे होता है अतएव जो अग्रगामी हो उसे 'पुरस्सर' कहेगे—पुरः सरन्तीति पुरःसराः (पुरस् + सृ + ट कर्त्तरि) । ट प्रत्यय यहाँ 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः' सूत्र से हुआ है । तात्पर्य है कि कर्तृवाच्य होने पर पुरस्, अग्रतस् तथा अग्र उपपद रहने पर सृ धातु मे ट प्रत्यय लगता है । यशोधना–यशस्विनः, यश ही जिनका धन है, ऐसे लोग । यश एव धनमेषा ते यशोधनाः (बहुव्रीहि.) । भवादृशा.-भवद्विधाः पुरुषाः । व्युत्पत्ति के लिए २८ वाँ पद्य देखे—'भवादृशेषु प्रमदाजनोदितम्' आदि । ईदृशम्-उक्तप्रकारम्, इस प्रकार के । पूर्ववर्णित स्वरूप वाले (अपमान को) (इदम् + दृश् + कञ् + द्वितीयैकवचनम्) । विशेष व्याख्या के लिए २५ वे पद्य मे व्याख्यात 'मादृशाम्' शब्द की प्रक्रिया देखे—'प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशा गिरः ।' 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' सूत्र से कञ् प्रत्यय 'तथा इदकिमोरीश्की' सूत्र से इदम् के स्थान पर ईश् आदेश हुआ । इस प्रकार इदम्—ईश् + दृश् + कञ् = ईदृशम् (द्वितीयैकवचन) । सुदुस्सहम्—असह्यतमम् अर्थात् अत्यन्त असह्य । सु अतिशयेन दुस्सह सुदुस्सहम् (प्रादि तत्पु०) सु + दुर् + सह् + खल् = सुदुस्सहम् । व्याकरण के नियमानुसार ईषद् दुर् तथा सु उपपद होने पर सुख और दुःख के अर्थ मे खल्

प्रत्यय का प्रयोग होता है-'ईषद्दु मुपु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेपु खल् ।' **निकारम्**-अपमानम्, पराभव को, तिरस्कार को। नि + कृञ् छ घञ् भावे तम्। 'निकारो हि तिरस्कारोऽपमानश्च पराभव' इत्यमर। **प्राप्य**—समवाप्य, अनुभूय अर्थात् प्राप्त करके या सह करके। प्र+आप् + क्त्वा ल्यप् प्रत्यय। **रतिम् अधिकुर्वते**--सन्तोषमवलम्बन्ते। तुष्टि पा लेते हैं। अधिकुर्वते आत्मनेपदी प्रयोग है... अधि + कृ + लट् प्रथमपुरुष बहुवचन। चेत् का अर्थ है 'यदि'। हन्त—खेद के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाला एक विस्मयादिबोधक अव्यय। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पाया वाक्यारम्भविषादयो.' इत्यमरः। **मनस्विता**—अभिमानिता, स्वाभिमान का भाव अथवा आत्मसम्मान की भावना। जिनका मन प्रशस्त हो उन्हे 'मनस्वी' कहा जाता है। मनस्वी का भाव ही 'मनस्विता' है। प्रशस्त मन एषामिति मनस्विन' (मनस् + विनि मत्वर्थे) तेषा भावः मनस्विता (मनस्विन् + तल् स्त्रियाम् + टाप्)। विनि प्रत्यय यहाँ 'अस्मायामेधास्रजो विनि' सूत्र से हुआ है। **निराश्रया**—निरवलम्बा सती अर्थात् निराधार, आश्रयविहीन होकर। निर्गत' आश्रय (आ+श्रि+अच्) यस्या सा निराश्रया (बहुव्रीहि)। **हता**—विनष्टा, समाप्त या लुप्त हो गई। हन्+क्त कर्मणि+टाप् स्त्रियाम्+सु।

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रम—
श्चिराय पर्य्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं
जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम् ॥४४॥

अथेति। अथ पक्षान्तरे निरस्तविक्रमः सन्। चिराय चिरकालेनापि क्षमां क्षान्तिमेव। 'क्षितिक्षान्त्यो क्षमा' इत्यमर.। सुखस्य साधन पर्य्येषि अवगच्छसि। तर्हि लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजचिह्न कार्मुकम् विहाय। धरतीति धर पचाद्यच्। जटानां धरो जटाधर' सन्निह वने। पावक जुहुधि पावके होम कुर्वित्यर्थ। अधिकरणे कर्मत्वोपचार.। विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः। 'हुझल्भ्यो हेर्धि.' ॥४४॥

श्लोकान्वय—अथ निरस्तविक्रम चिराय क्षमामेव सुखस्य साधनम् पर्य्येषि, लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुक विहाय जटाधर. सन् इह पावकं जुहुधि।

अनुवाद—और यदि पराक्रमविहीन होकर चिरकाल तक क्षमावृत्ति को ही (आप) सुख का मूल समझते हैं तो राजचिह्न धनुष का परित्याग करके, जटाधारी बन कर यहीं वन मे अग्नितर्पण कीजिए।

भावार्थ—यत्किञ्चित् मयोदित भवदुपकारबुद्ध्या तत् सर्वं समुचितमेव वर्तते इत्यहं न मन्ये। राजन्! इदमपि तावत् सम्भवति यद् भवच्चिन्तनस्फुरण मज्जल्पनापेक्षया किञ्चिदधिकमेव हितकर स्यात्। को नाऽबलाबुद्धिप्रत्यय ? अथ भवान् निरुद्यमस्सन् आजीवन शान्तिमेव हृदयानन्दसन्दोहमूल मन्यते तत् अलमति-विवादेन। स्वस्ति भवते सर्वजनहिताय जगदाधाराय। किन्तु कृपया स्वीक्रियता-म्मदीयमभिमतमेकम्। को लाभ शरासनग्रहणेन साम्प्रतम्? मुनिवृत्तिमवलम्ब्य जटाधरस्सन् पावक पोषय हव्यप्रदानेन। इदमेव सुदलङ्करणमधुना भविष्यति विश्व-बन्धोस्तव।

टिप्पणी—अथ—पक्षान्तरे। 'अथ और इति' क्रमश किसी प्रकरण का प्रारम्भ और अन्त द्योतित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। परन्तु यहाँ इसका प्रयोग पक्षान्तर या विकल्पार्थ को सूचित करने के निमित्त हुआ है। यह अव्ययपद है। मेदिनीकोश मे इसके अनेक अर्थ प्रस्तुत किये गये है-अथो अथ सशये स्याताम् अधिक-रणे च मङ्गले। विकल्पानन्तरप्रश्नकात्स्न्यारम्भसमुच्चये॥ अमरकोशकार ने लिखा है—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ'। निरस्तविक्रम —व्यपगतपराक्रमः अर्थात् पराक्रमविहीन होकर। निरस्त नाशमुपगत विक्रमः यस्य सः निरस्तविक्रमः (बहु०)। चिराय—चिरकाल यावत् अर्थात चिरकाल तक के लिये। 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याः चिरार्थका.' इत्यमर। क्षमामेव—शान्तिमेव शान्ति को ही, सन्तोषवृत्ति को ही। क्षम् + अङ् भावे + टाप् स्त्रियाम् द्वितीयैकवचनम्। क्षितिक्षान्त्योः क्षमा इत्यमर.। 'एव' यहाँ अवधारण के अर्थ मे है। सुखस्य साध-नम्—आनन्दस्य कारणम्। आनन्द या सुख का साधन या कारण। निर्वर्तनोपकर-णानुव्रज्यासु च साधनम् इति कोशः। पर्येषि—अवगच्छसि। परि + इ + लट् लकार, मध्यमपुरुष एकवचन। इसके बाद 'तर्हि' का प्रयोग होना चाहिए। लक्ष्मी-पतिलक्ष्म कार्मुकम्—राजचिह्न धनु अर्थात् लक्ष्मीपति = भूपालो के लक्ष्म = चिह्नभूत कार्मुक = धनुष् को। जो नीतिमान् पुरुष को लक्षित करे, कृपापात्र बनाए, वही 'लक्ष्मी' है—लक्षयति पश्यति नीतिमन्त पुरुषम् इति लक्ष्मीः (लक्ष् + णिच् ई, औणादिक मुडागम), लक्ष्म्या पति इति लक्ष्मीपति (षष्ठीतत्पु०), तस्य लक्ष्म इति लक्ष्मीपतिलक्ष्म (षष्ठी तत्पु०)। यह पूर्णशब्द 'कार्मुकम्' का विशेषण होगा। 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छन च चिह्न लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमर.। कार्मुक का अर्थ है धनुष्। जो कर्म करने मे समर्थ हो वही कार्मुक है—कर्मणे प्रभवति इति कार्मुकम् (कर्म + उकञ्) 'धनुश्चापौ धन्व-शरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमरः। विहाय—परित्यज्य, छोड करके। वि + हा + क्त्वा-ल्यप्। जटाधरस्सन्—जटिलस्सन्, मुनिवृत्तिमवलम्ब्य। अर्थात् जटाधारी

बनकर। ऋषि-मुनि बन कर। धरतीति धरः (धृ+अच्कर्त्तरि) जटाना धरः इति जटाधरः (ष० तत्पु० समासः)। यदि इस शब्द की व्युत्पत्ति हम 'जटा धरति इति जटाधर.' करना चाहे तो सम्भव न होगा क्योकि तब 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण् प्रत्यय लगकर 'जटाधारः' रूप बन जायेगा। इह-अस्मिन् वने, इसी वन मे। पावकम्—अग्निदेव को। जो पवित्र करे वही पावक है—पुनाति इति पावकः (पू + ण्वुल् कर्त्तरि) वु को अक् आदेश होने के कारण (पू + अक्) पावक रूप बना। 'आश्रयाशो बृहद्भानु· कृशानु· पावकोऽनल' इत्यमरः। जुहुधि—तर्पय, हवन कुरु। अर्थात् हवन कीजिए। हु + लोट्लकार मध्यमपुरुष एकवचन।

अथ समयोल्लङ्घनाद्बिभेषि, तदपि न किञ्चिदित्याह :—

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते
निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा
विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि ॥४५॥

नेति। परेषु शत्रुषु निकृति. शाठ्यम् पर प्रधान येषु तेषुतथोक्तेष्वपकारतत्परेषु सत्सु भूरिधाम्नो महौजस प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्त्रयोदशसवत्सरान् वने वत्स्यामीत्येवरूपा सवित्। 'समया शपथाचारकालसिद्धान्तसविदः' इत्यमरः तस्य परिरक्षणं प्रतीक्षण न क्षम न युक्तम्। 'युक्ते क्षम शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमर·। हि यस्माद्विजयार्थिनो विजिगीषवः क्षितीशा अरिषु विषये सोपधि सकपट यथा तथा। 'कपटोऽस्त्री व्याज दम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमर.। सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद्व्याजेन दोषमापाद्य सन्धि दूषयन्ति। विघटयन्तीत्यर्थ·। शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा कार्यसाधन प्रधानमन्यत्समयरक्षणादिकमशक्तस्येति भाव। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥४५॥

श्लोकान्वय—परेषु निकृतिपरेषु भूरिधाम्नः ते समयपरिरक्षण न क्षमम्। हि विजयार्थिनः क्षितीशाः अरिषु सोपधि सन्धिदूषणानि विदधति।

अनुवाद—शत्रुओ के (आपके प्रति निरन्तर) शाठ्यतत्पर रहने की स्थिति में, परम तेजस्वी आपके लिए प्रतिज्ञा की रक्षा करना समुचित नही है क्योकि विजयाभिलाषी नृपतिगण कपटपूर्वक शत्रुओ के साथ की गई सन्धियो को भङ्ग कर देते हैं।

भावार्थ—राजन् । मायाचारी मायया प्रत्युपेयः इतीदमेव शास्त्रवचनम् । भवास्तावत् प्रतिज्ञामनुपालयन् बन्धुभिर्मया च सार्धं वनवासकष्टानि सहते किन्तु एवम्भूतेऽपि सुयोधनादिकाः भवच्छत्रव न मौनभावमवलम्बन्ते । निरन्तरमेव ते शाठ्यसलग्ना सन्ति । काननेऽप्यस्मिन् प्रायेण प्रतिदिनमेव तैः प्रपीडिता वयम् । किमधुनापि प्रतिज्ञानुपालन समुचितमेव ? न कदापि । यत विजयाभिलाषुका. प्रतीकारक्षमाः भूपतयः न कदापि प्रतिज्ञानुबद्धा· भवन्ति । ते तु केनचिद् व्याजेन दोषमासाद्य पूर्वकृत सन्धि विच्छिन्दन्ति । इयमेव राजनीति· । भवतापि तावदेवमेव क्रियतामिति मया साभ्यर्थन याच्यते ।

टिप्पणी—परेषु—शत्रुषु । शत्रुओ के । निकृतिपरेषु—शाठ्यसलग्नेषु सत्सु, शठता मे लगे रहने पर । 'सति सप्तमी' का प्रयोग । निकृति का अर्थ है—शठता या अपमान । निकृति ही जिनमे प्रधान हो वे 'निकृतिपर' हैं—निकृति. (नि+कृ+क्तिन् भावे) पर प्रधानम् एषामिति निकृतिपरास्तेषु (बहु०) कुसृतिर्निकृतिः शाठ्यम् । इत्यमर· । पर. श्रेष्ठारिदूरान्योत्तरे क्लीबन्तु केवले इति मेदिनीकोश· । भूरिधाम्नस्ते—महौजसस्तव । प्रचुर पराक्रम वाले आप का ! भूरि का अर्थ है प्रचुर—'पुरुहू· पुरु भूयिष्ठ स्फार भूयश्च भूरि च' इत्यमरः । भूरि भूयिष्ठ धाम तेज· अस्यास्ति इति भूरिधामा तस्य भूरिधाम्नः (बहु०) । समयपरिरक्षणम्—शपथप्रतीक्षणम्, की गई प्रतिज्ञा का परिरक्षण । समय का तात्पर्य है प्रतिज्ञा या शपथ । महाराज युधिष्ठर ने तेरह वर्ष वन मे बिताने की प्रतिज्ञा की थी । द्यूतक्रीडा में पराजित होकर अब वे उसी प्रतिज्ञा का परिरक्षण या पालन कर रहे हैं—'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसविद' इत्यमर· । समयस्य (सम् + ई + अच् + भावे + ङस्) परिरक्षणम् (परि + रक्ष + ल्युट् भावे) इति समयपरिरक्षणम् (षष्ठीतत्पु०) । नक्षमम्—न युक्तम् । उचित नही है । क्षमते इति क्षमम्—क्षम् + पचाद्यच् से अच् प्रत्यय । 'युक्ते क्षमं शक्ते हित त्रिषु' इत्यमरः । हि—यस्मात् कारणात्, यतः क्यो कि । विजयार्थिनः क्षितीशा --जयाभिलाषिणो भूपतयः । विजयाभिलाषी नृपतिगण जो विजय की अभ्यर्थना करे वे 'विजयार्थी' हैं—विजयम् (वि + जि + अच् भावे + अम्) अर्थयन्ते इति विजयार्थिनः (विजय + अर्थ् + णिनि कर्त्तरि) । क्षितीश का अर्थ है क्षिति अर्थात् पृथ्वी के ईश—स्वामी लोग । क्षितेः भुव ईशाः इति क्षितीशाः (षष्ठी तत्पु०) 'धरा धरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः ।' इत्यमरः । अरिषु–शत्रुषु, शत्रुविषयक । विषयाधिकरणे सप्तमी । 'रिपौ वैरिसपत्नारिः' इत्यमरः सोपाध—सकपटम्, कपटसहित या किसी बहाने से । 'उपधि' का अर्थ है व्याज या बहाना । 'उपधिः व्याजचक्रयोः' इत्यमर. । उपधीयते इति उपधिः (उप + धा +

कि भावे) तेन सह वर्तमानम् इति सोपधि (बहु०) तत् यथा स्यात्तथा (क्रिया-विशेषणम्)। **सन्धिदूषणानि**—सन्धिभङ्गान् अर्थात् पूर्वकृत समझौते का विनाश। सन्धीयते इति सन्धिः (सम्+धा+कि भावे) तस्य दूषणानि (दुष्+णिच्+ल्युट् भावे) इति सन्धिदूषणानि (षष्ठी तत्पु०)। दुष् धातु णिजन्त होने पर 'दोषो णौ' सूत्रानुसार दीर्घस्वर युक्त (दूष्) हो जाती है। **विदधति**—आरोपयन्ति, कुर्वन्ति। कर देते है। वि+धा+लट् लकार, प्रथमपुरुषबहुवचन।

प्रस्तुत पद्य मे उत्तरार्ध के सामान्य-कथन द्वारा पूर्वार्ध के विशेष-कथन का समर्थन किया गया है, फलतः अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। साथ ही इस पद्य मे छन्द भी बदल गया है—पुष्पिताग्रा। जब प्रथम एवं तृतीय चरण मे क्रमश नगण, नगण, रगण, यगण तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण मे क्रमश नगण, जगण, जगण, रगण और एक गुरु वर्ण हो तो वहाँ पुष्पिताग्रा छन्द होता है। लक्षण इस प्रकार है—'अयुजि नयुग रेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।' प्रस्तुत पद्य मे इसकी चरितार्थता देखे—

प्रथम एव तृतीय चरण—	। । ।	। । ।	ऽ । ऽ	। ऽ ऽ
	नसम	यपरि	रक्षण	क्षमते
	अरिपु	हिविज	यार्थिन	क्षितीशा.
द्वितीय एव चतुर्थ चरण—	। । ।	।ऽ ।	। ऽ ।	ऽ । ऽ ऽ
	निकृति	परेषु	परेषु	भूरिधा म्न.
	विदध	तिसोप	धिसन्धि	दूषणा नि

उक्तमर्थमाशीर्वादपूर्वकमुपसहरति —

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं,
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमान दिनादौ,
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥४६॥

इति भारविकृतौ किरातार्जुनीये महाकाव्ये प्रथम. सर्गः।

विधीति। विधिर्दैवम्। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमर। समय कालस्तयोर्नियोगान्नियमनाद्धेतोः। तयोर्दुरतिक्रमत्वादिति भाव। अगाधे दुस्तरे। आपत्पयोधाविवेत्युपमितसमासः। दिनकृतमिवेति वक्ष्यमाणानुसारात्तस्मिन्नापत्पयोधौ मग्नम्।

सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परेद्युरुन्मज्जतीत्यागमः । दीप्तिः प्रताप आतपश्च तस्याः संहारेण जिह्ममप्रसन्नम् । शिथिलवसु शिथिलधनमन्यत्र शिथिलरश्मिम् । 'वसु देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । 'शिथिलबलम्' इति पाठे तूभयत्रापि शिथिलशक्तिकमित्यर्थः । रिपुस्तिमिरमिवेति रिपुतिमिरम् उदस्य । निरस्योदीयमानमुद्यन्तम् । 'ईङ् गतौ' इति धातोर्दैवादिकात्कर्तरि शानच् । त्वा दिनादौ दिनकृतमिव । लक्ष्मीः भूयः समभ्येतु भजतु । 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लोट् । चमत्कारकारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः । यथाह भगवान्भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति । पूर्णोपमेयम् । मालिनी वृत्तम् । सर्गान्तत्वाद्वृत्तभेदः । यथाह दण्डी 'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः । सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ॥' इति ।

अथ कविः काव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकं सर्गपरिसमाप्तिं कथयति—इतीत्यादि । इतिशब्दः परिसमाप्तौ । भारविकृताविति कविनामकथनम् । महाकाव्य इति महच्छब्देन लक्षणसम्पत्तिः सूचिता । किरातार्जुनीय इति काव्यवर्णनीययोः कथनम् । प्रथमः सर्गः समाप्त इति शेषः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । किरातार्जुनावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम् 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' इति द्वन्द्वाच्छप्रत्ययः राघवपाण्डवीयमितिवत् । तथा चार्जुन एवात्र नायकः । किरातस्तु तदुत्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः । यथाह दण्डी— 'वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि । तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ॥' इति । अथात्र सङ्ग्रहः—नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजस्तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः । शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम्' इति ॥४६॥

श्लोकान्वय—विधिसमयनियोगात् अगाधे आपत्पयोधौ मग्नं दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसु रिपुतिमिरम् उदस्य उदीयमानं त्वा दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीः भूयः समभ्येतु ।

अनुवाद—भाग्य एवं समय के नियोगवश अगाध विपत्ति रूपी सागर में निमज्जित, प्रकाश का विनाश हो जाने से कान्तिहीन, मन्दप्रभ (किन्तु) शत्रुसदृश अन्धकार का विदलन करके पुनः समुदित होते हुए प्रातःकालीन सूर्य (को प्राप्त होने वाली प्रकाशलक्ष्मी) की ही भाँति भाग्य एवं समय के नियोगवश अगाध विपत्तिरूप सागर में निमज्जित, प्रताप का विनाश हो जाने से अप्रसन्न, ऐश्वर्यविहीन (किन्तु)

अन्धकार-सदृश शत्रु का विदलन करके अभ्युदय प्राप्त करने वाले आपको, भाग्योदयवेला मे, साम्राज्यलक्ष्मी पुन अलङ्कृत करे।

भावार्थ--प्राणेश ! इदमेव तावज्जगदीश्वर प्रति प्रार्थ्यते मया यद्भवान् यावच्छीघ्र स्वैश्वर्यम् अवाप्नोतु। यथा खलु सूर्य आदिवस समग्रमपि कृत्स्न भूलोक स्वतेजसा प्रकाशयति हन्त ! तथापि देवनियमनात् समागत एव सन्ध्याकाले अगाध-विपज्जलनिधौ निपत्य निखिलमेव वैभव प्रजहाति। पुनश्च रजन्यवसाने प्रातरेव हिम-धवलमयूखान् भूयोभूय. वितीर्य स्वपूर्वशोभामुररीकरोति तथैव भा-त्कमपि भाग्यचक्र वर्तते। नेय विपत्ति. चिरावस्थायिनी न च वनवासोऽय युगावधिः। राजन्। यत्किञ्चिदपि दौर्भाग्यमनुभूयते भवता न तत् आत्मकृतदोषफलम् प्रत्युत् दैवयोगादेव पूर्वजन्मकृतपापादेव सम्प्राप्तम्। तत्तु निश्चप्रच क्षयमुपयास्यति ! पुनरपि भवान् स्व-पूर्वैश्वर्यमवाप्स्यति इत्यहमाशासे।

टिप्पणी—प्रस्तुतश्लोक मे दो अर्थों का निबन्धन कवि ने युगपद् किया है—एक तो युधिष्ठिरपरक अर्थ जो कि उपमेयपक्ष है और दूसरा सूर्यपरक अर्थ जो कि उपमानपक्ष है। पदावली सम्पूर्ण श्लोक मे एक ही है। **विधिसमयनियोगात्**—दैवकालनियमनात्। दैव तथा समय के नियम वश। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु का नियमन दो पदार्थो से होता है एक तो 'विधि' या स्रष्टा जो कि चराचर का स्वामी है और दूसरा काल या समय। कहा भी जाता है--'पुरुष बली नहि होत है समय होत बलवान्।' प्रचण्डप्रताप वाला सूर्य भी सान्ध्यवेला मे विपत्तिरूपी सागर मे डूब जाता है, यह दैवयोग ही तो है, कालमहिमा ही तो है। विश्वविख्यात पौरुष वाले बन्धुओ से युक्त होकर भी धर्मराज युधिष्ठिर यदि वनवासी है तो यह भी दैव तथा काल का ही प्रभाव है। यह शब्दसमूह सूर्य तथा युधिष्ठिर दोनो ही पक्षो मे समान रूप से चरितार्थ होगा। जो सर्जना करे, विधान करे वही 'विधि' है—विदधाति इति विधिः (वि+धा+कि)। नियोग का अर्थ है नियमन अथवा नियन्त्रण—नि+युज्+घञ् भावे। विधिश्च समयश्च इति विधिसमयौ (द्वन्द्वसमासः) तयो नियोग इति विधिसमयनियोगः (षष्ठी तत्पु०) तस्मात्। विधिर्विधाने दैवे च। कालोदिष्टोऽप्यनेहापि समयोऽप्यथ पक्षति.। इत्यमरः। **अगाधे**—अतलस्पर्शे, अर्थात् अत्यन्त गभीर। जिसे गहाया (नापा) जा सके वह 'गाध' है—गाध्यते इति गाधः (गाध्+घञ्-कर्मणि)। न गाध अगाधः (नञ् तत्पु०), तस्मिन्। 'आपत्पयोधौ' का विशेषण है और उपर्युक्त दोनो पक्षो मे समान रूप से चरितार्थ होगा। 'अगाधमतलस्पर्शे' इत्यमरः। **आपत्पयोधौ**—विपत्तिसागरे अर्थात् विपत्ति रूपी सागर मे। आपत् पयोधिरिव इति आपत्पयोधिः, तस्मिन् (उपमितसमासः)। दोनो पक्षो मे समानार्थक।

मग्नम् — विपन्नम्, डूबा हुआ । मज्ज् + क्त (निष्ठाया नत्वम् अर्थात् क्त का न हो जाना) = मग्नम् । दीप्तिसंहारजिह्मम्--सूर्य के पक्षमे-दीप्ति अर्थात् आतप (प्रकाश) का संहार (विनाश) हो जाने के कारण कान्तिहीन । दीप्ते आतपस्य संहार नाशः इति दीप्तिसंहार (षष्ठी तत्पु०), तेन जिह्म. मन्दप्रभः इति दीप्तिसंहारजिह्मः. (तृतीया तत्पु०) । 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तय. ।' इत्यमर. । युधिष्ठिर के पक्ष में—दीप्ति का अर्थ होगा प्रताप । शेष व्याख्या ऊपर की ही भाँति । शिथिलवसुम्—सूर्य के पक्ष मे--मन्द कान्ति वाला । शिथिल वसु रश्मिः यस्य सः शिथिलवसुः, त शिथिलवसुम् (बहुव्रीहिः) । युधिष्ठिर के पक्ष मे--मन्द वैभव वाला । शिथिल वसु धन यस्य स., तम् (बहुव्रीहिः) । 'वसु' शब्द रश्मि एव धन दोनो अर्थ प्रस्तुत करता है--'वसुर्देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । रिपुतिमिरम्-सूर्य के पक्ष मे--शत्रु सदृश अन्धकार को (रिपुरिव तिमिरम् इति रिपुतिमिर तत्) । युधिष्ठिर के पक्ष मे--अन्धकार सदृश शत्रु को (रिपुः तिमिरमिव इति रिपुतिमिर तत्, उपमितसमासः । अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्त तमिस्र तिमिर तम ' इत्यमर. । उदस्य—निरस्य अर्थात् विदलित करके, विनष्ट करके । उद् + अस् क्षेपे (दिवादिः) + क्त्वा ल्यप् । दोनो पक्षो मे समानार्थक । उदीयमानम्-सूर्य के पक्ष मे--उदित होते हुए (उद्यन्तम्) उद् + ईङ् (दिवादि) + शानच् कर्त्तरि द्वितीयैकवचन । युधिष्ठिर के पक्ष मे--अभ्युदय प्राप्त करते हुए, समृद्धि की ओर उन्मुख संस्कृत-व्याख्या ऊपर की ही भाँति । त्वाम्—भवन्तम्, आपको, युधिष्ठिर को । दिनादौ—दिवसारम्भे, प्रात.काले वा । अर्थात् प्रभातकाल मे । दिनस्य आदिः इति दिनादि. (षष्ठी तत्पु०) तस्मिन् । यद्यपि 'दिनादौ' का साक्षात् सम्बन्ध सूर्य से ही है किन्तु लक्षणया वह युधिष्ठिर के भी पक्ष मे चारितार्थ हो सकता है । तब इसका अर्थ होगा--भाग्योदयवेला मे अथवा अनुकूल समय मे । दिनकृतमिव—सूर्य की भाँति । जो दिन करे, वह दिनकृत् है--दिन करोति इति दिनकृत्, तम् इव (दिन + कृ + क्विप् कर्त्तरि + अम्) । लक्ष्मी.—सूर्य के पक्ष मे--प्रकाशलक्ष्मी, द्युतिश्री और युधिष्ठिर के पक्ष मे --राजश्री अर्थात् भूपालोचित ऐश्वर्यलक्ष्मी । भूय —पुन. फिर से । 'भूयस्त्रिषु बहुतरे पुनरर्थे तदव्ययम्' इति मेदिनीकोश । समभ्येतु — प्राप्नोतु, सम्यक् रूप से प्राप्त करे, अलकृत करे । सम् + अभि + इ + लोट् लकार प्रथमपुरुषैकवचन ।

प्रस्तुत पद्य मे पूर्णोपमा अलङ्कार है । पूर्णोपमा वहाँ होती है जहाँ पर उपमा के चारो अगो का (उपमान, उपमेय, साधारणधर्म तथा वाचकशब्द) साकल्येन प्रयोग हो । प्रस्तुत श्लोक में 'त्वाम्' (युधिष्ठिर) उपमेय, दिनकृतम् (अर्थात् सूर्य) उपमान, दीप्तिसंहारजिह्मता, शिथिलवसुता, आपत्पयोधिमग्नता तथा उदीय-

मानता आदि साधारणधर्म हैं । इव उपमावाचक शब्द है। इस प्रकार उपमा के चारो ही अगो का सुस्पष्ट आदान किया गया है। आचार्य मम्मट पूर्णोपमा का लक्षण प्रस्तुत करते है—'उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा ।

प्रस्तुत पद्य मे छन्द भी परिवर्तित कर दिया गया है। महाकाव्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुये आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण मे लिखा है—'एकवृत्तमयै. पद्यै रवसानेऽन्यवृत्तकैः......नानावृत्तमयः क्वापि सर्ग· कश्चन दृश्यते ।' इसका मुख्य अर्थ यह है कि महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग मे एक ही प्रकार का वृत्त (छन्द) होता है। हाँ, सर्ग के अन्त मे वृत्त बदल जाते हैं। किरात के इस प्रथम सर्ग मे ही हम इस लक्षण की चरितार्थता पाते है। सम्पूर्ण सर्ग एक ही छन्द 'वशस्थ' मे है परन्तु अन्तिम दो पद्यो मे कवि ने वृत्तपरिवर्तन कर दिया है। ४५ वे पद्य मे 'पुष्पिताग्रा' है जिसकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है । इस अन्तिम पद्य मे कवि ने 'मालिनी' छन्द का प्रयोग किया है, जिसका लक्षण है—'ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकै. ।' अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण मे क्रमश. नगण, नगण मगण, यगण और यगण हो (अर्थात् ३ × ५ = १५ अक्षर हो) तथा क्रमशः आठ (भोगी का अर्थ है सर्प जिनकी सख्या आठ है) एव सात (लोक सात हैं—अतल, वितल, सुतल,तलातल, महीतल, रसातल एव पाताल) वर्णो के बाद 'यति' हो उसे 'मालिनी' छन्द कहते हैं। इस पद्य में देखे—

I I I	I I I	S S S	I S S	I S S
विधिस	मयनि	योगाद्दी	प्तिसहा	रजिह्मम् ।
(नगण)	(नगण)	(मगण)	(यगण)	(यगण)

इसी प्रकार अन्य तीनो चरण भी होगे क्योकि मालिनी समवृत्त छन्द है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि का वचन है—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि आयुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति ।' अर्थात् प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त तीनो ही स्थानो मे मङ्गलयुक्त शास्त्र प्रणीत किये जाते हैं। ऐसा करने से वे लोगो को वीर एव आयुष्मान् बनाते हैं। ऐसे शास्त्रो के अध्येता भी वावदूक होते हैं। सम्भवतः महाभाष्य के इसी तथ्य का स्मरण करके महाकवि भारवि ने सर्ग के प्रारम्भ मे मङ्गलमय 'श्री' शब्द का प्रयोग किया (श्रियः कुरूणाम् आदि) और अन्त मे भी मङ्गलमय 'लक्ष्मी' शब्द को ही स्थान दिया है। भारवि ने प्रायः किरातार्जुनीय के प्रत्येक सर्ग

का अन्त 'लक्ष्मी' शब्द से ही किया है। फलतः इससे मङ्गलान्तता के साथ ही साथ एक चमत्कार की सर्जना भी हो गई है।

दर्शं दर्शमजीर्णरोगसदृश कैरातकष्ट महत्
छात्राणा सुकुमारचिन्तनवतां बीएपरीक्षाजुषाम् ।
यद्दत्त गुरुवैद्यकेन मधुर व्याख्यौषध सश्रम
राजेन्द्रेण परीक्षणप्रवहण सौख्यास्पद तद्भवेत् ॥